तुलसी प्रज्ञा

फर. 93

अनुसंधान-त्रैमासिकी

Jain Vishva-Bharati Institute Research Journal

93

जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं-३४१३०६
मान्य विश्वविद्यालय
Jain Vishva-Bharati Institute, Ladnun—341-306

तुलसीप्रज्ञा—त्रैमासिक अनुसंधानपत्रिका

खण्ड-१८] [सन् १९९२-९३

वार्षिक	शुल्क प्रति अंक	आजीवन
४५)	२०)	५००)

पांच वर्षों के लिए—२००) और दस वर्षों के लिए—४००) रुपये
शोधकर्त्ता विद्वान् और छात्रों के लिए वार्षिक २५) रुपये में देय

- 'तुलसी प्रज्ञा' प्रतिवर्ष—मार्च, जून, सितम्बर और दिसम्बर माह के तीसरे सप्ताह में प्रकाशित होती है।
- प्रकाशनार्थ लेख इत्यादि कागज के एक ओर टंकण कराके भेजें। साधारणतया दस पृष्ठों से बड़ा लेख न हो। जरूरी हो तो विवेच्य विषय दो भागों में विभाजित किया जा सकता है।
- लेख मौलिक और अप्रकाशित होना जरूरी है। कृपया ऐसा कोई आलेख भी न भेजें जो प्रकाशनार्थ अन्यत्र भेजा गया हो अथवा भेजा जाना हो।
- 'सम्पादक-मण्डल' द्वारा लेखादि में काट-छांट सम्भव है किन्तु भाव और मंशा को सुरक्षित रखा जावेगा। दुर्लभ फोटो और रेखाचित्र मुद्रित हो सकते हैं।
- प्रकाशन-स्वीकृति दो माह के भीतर भेज दी जाती है। अस्वीकृत लेख लौटाने संभव नहीं होंगे। अतः प्रतिलिपि सुरक्षित रख लें।
- लेखादि हिन्दी अथवा अंग्रेजी भाषा में निबद्ध हो सकते हैं; किन्तु आगम और प्राकृत, संस्कृत आदि ग्रन्थों से उद्धरण देवनागरी लिपि में लिखें और उद्धृत-ग्रंथों के संस्करण और प्रकाशन-स्थान भी सूचित करें।
- समीक्षा और समालोचना के लिए प्रत्येक ग्रंथ की दो-दो प्रतियां भेजें।
- सभी प्रकार के पत्र-व्यवहार के लिए—'सम्पादक, "तुलसी प्रज्ञा" जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं-३४१३०६' को संबोधित करना चाहिए।

संपादक

डॉ० परमेश्वर सोलङ्की

तुलसी प्रज्ञा

खण्ड १८	२८ फरवरी, १९९३	अंक-४
Vol. XVIII	28 February, 1993	No. 4

संरक्षक

डॉ० रामजी सिंह, कुलपति

संपादक-मण्डल

डॉ० दशरथ सिंह	अहिंसा एवं शांति-शोध विभाग
डॉ० के० कुमार	जीवन विज्ञान एवं प्रेक्षाध्यान विभाग
डॉ० देवनारायण शर्मा	प्राकृत भाषा एवं साहित्य विभाग
डॉ० राय अश्वनी कुमार	जैन विद्या विभाग

प्रबन्ध-संपादक

डॉ० परमेश्वर सोलंकी

Patron

Dr. Ramjee Singh, Vice-chancellar

Editorial Board

Dr. Dashrath Singh	Deptt. of Non-Violence & Peace Research
Dr. K. Kumar	Deptt. of Jivan Vigyan & Preksha Meditation
Dr. Devanarayan Sharma	Deptt. of Prakrit language and Litrature
Dr. Rai Ashwini Kumar	Deptt. of Jainology

Managing Editor

Dr. Parmeshwar Solanki

JVBI Research Journal

Jaina Vishva-Bharati Institute, Ladnun 341-306

नोट—इस अंक में प्रकाशित लेखों में व्यक्त विचार लेखकों के हैं। यह आवश्यक नहीं है कि सम्पादक-मंडल अथवा संस्था को वे मान्य हों।

बड़ली जैन शिलालेख का महत्त्व और उसका अक्षरविन्यास

राजपूताना म्यूजियम, अजमेर में सुरक्षित बड़ली-शिलालेख अतीव महत्त्वपूर्ण है। इस त्रुटित लेख को समझने-बूझने में पं० गौरी शंकर ओझा, डा० के० पी० जायसवाल, डॉ० आर० बी० पाण्डे, डॉ० डी० सी० सरकार, एस० आर० गोयल, टी० पी० वर्मा और सी० एस० उपासक प्रभृति अनेकों विद्वानों ने अथक प्रयास किये हैं।

ये प्रयास, अधिकतर शिलालेख को अशोक के लेखों से पूर्व अथवा पीछे का लिखा होने तथा उसकी लिपि एवं लिप्यक्षरों की बनावट से उसके काल-निर्धारण पर हुए हैं। उसमें उल्लिखित घटना और उसकी पदावली (इबारत) में अभिप्रेत अर्थ को खोजने का प्रयास कम हुआ है।[1]

१. किन्हीं भी दो व्यक्तियों का लेख एक जैसा नहीं होता और कैसे भी पुराने नये लेख की प्रतिलिपि सम्भव है; फिर भी न जाने क्यों लोग लिप्यक्षर बनावट से काल-निर्धारण की चेष्टाएं करते हैं। दुर्भाग्य यह है कि उसमें अन्तर की समय सीमा भी उत्तरोत्तर छोटी बनाकर ये लोग अनर्थ करने से भी नही चूकते !

हमारी दृष्टि में बडली-शिलालेख का अक्षर-विन्यास ऐतिहासिक महत्त्व का है। उस पर उत्कीर्ण पदावली भी भाषागत वैशेष्य से उल्लेखनीय है। वस्तुतः यह लेख मध्यमिका (चित्तोड़गढ़) नगरी का है और वहां से खंडित होकर बड़ली पहुंचा है। पं. ओझा को सन् १९१२ में वह बड़ली के समीपस्थ भैरव मंदिर के भोपे से मिला था। इसका दूसरा भाग आजकल उदयपुर के प्रताप संग्रहालय (पूर्व का विक्टोरिया हॉल म्यूजियम) में (क्रमांक १६/५१८) है।[1]

अजमेर-संग्रहालय के शिलाफलक पर निम्नलेख है—

पंक्ति १ :-वीराय भग व (ते)—
,, २ : ५०० चतुरासीति व (से)—
,, ३ : कायेसालि माहिले (न)—
,, ४ : (प्र) तिष्ठा मभिमिके (क)—

उदयपुर-संग्रहालय के शिलाफलक पर निम्नलेख है—

पंक्ति-१ : .... (न) भूतानं दया थं
पंक्ति-२ : .... ता०.

दोनों शिलाफलकों के मूलपाठों को मिलाकर निम्न संशोधित उल्लेख बन सकता है—

पंक्ति १ : वीराय भगव (ते) परिनिवते[2]
,, २ : ५०० चतुरासीति व (से) वइये[3]
,, ३ : कायेसालि माहिले [न भूतानंदयाथं]
,, ४ : (प्र) तिष्ठा मभिमिके (कारि) [ता०][4]

इस उल्लेख से भगवान् महावीर के परिनिर्वाण बाद ५८४ वर्ष व्यतीत होने पर कायसालि माहिल (निर्युक्ति, चूर्णी आदि में उल्लिखित गोष्ठ माहिल ?) ने भूत दया के लिये मध्यमिका नगरी में आश्रय स्थान की

१. हमने सन् १९६१ में भी उदयपुर और अजमेर संग्रहालयों के शिलाफलकों को एक दूसरे से संबद्ध बताया था। देखें—वरदा, बिसाऊ, वर्ष-४ अंक-४ (अक्टूबर, सन् १९६१) में प्रकाशित हमारा लेख—'उदयपुर संग्रहालय के कतिपय अप्रकाशित लेख।'

२. अनुमान से प्रस्तावित पाठ

३. अनुमान से प्रस्तावित पाठ

४. उक्त दोनों शिलाफलकों में—उदयपुर-संग्रहालय में सुरक्षित शिलाफलक नगरी में प्राप्त राजा सर्वतात के लेख वाले शिलाफलक से मेल नहीं खाता; किन्तु बड़ली-लेख के शिलाफलक से मिलता जुलता है। यह शिलाफलक दाहिने भाग का हिस्सा है। इसका ऊपरी हिस्सा टूट गया है। वह भी उल्लिखित रहा होगा।

प्रतिष्ठा की थी। यह गोष्ठमाहिल आचार्य दिशपुर (मंदसौर) के थे और वहीं के आचार्य आर्यरक्षित के प्रमुख शिष्य थे जो संघ से विलग अबद्धियों के आचार्य बनें और निह्नव कहे गये।

उक्त संशोधित मूलपाठ की पहली और दूसरी पंक्तियों में प्रस्तावित पाठ 'परिनिवते' और 'वद्दये' के स्थान पर कुछ भिन्न प्रकार से भी अनुमानित किये जा सकते हैं; विशेषतः 'वद्दये' के स्थान पर 'अभिसिक्तेन' जैसा पाठ हो सकता है; किन्तु तीसरी और चौथी पंक्तियों के मूल पाठ प्रायः शुद्ध बन गए हैं। दोनों शिलाफलकों में साम्य है। सिलावट भी एक है। अक्षर-विन्यास, माप-जोख तथा अक्षर-क्षुरण में भी कोई विशेष अन्तर नहीं दीख पड़ता।

ऐतिहासिक दृष्टि से महावीर-निर्वाण बाद हुए संघ-विभेदों में ५८४ वां वर्ष "माहिल" उल्लेख होने से इतिहास एवं परम्परा-सम्मत हो गया है। आचार्य गोष्ठमाहिल, कायसालि थे—यह उनके संबंध में व्यक्तिगत जानकारी भी उपलब्ध होती है।

लेख में संवत्सर परिचायक निशान नहीं दीख पड़ता। उसके आरंभ में केवल एक छोटी रेखा (स्ट्रोक) बनी है। कोई मांगलिक निशान भी नहीं है। "वी" अक्षर को अन्य अक्षरों से छोटा बनाया गया है जो उसके आद्य अक्षर होने को प्रकट करता है।

लेख की दूसरी पंक्ति में प्रथम निशान को 'आठ' के अंक का द्योतक नहीं माना जा सकता; किन्तु उसे पांच अंक का निशान मान लेने को अनेकों सादृश्य उपलब्ध हैं। 'सौ' अंक का परिचायक निशान भी अस्पष्ट है किन्तु 'चार' के अंक से वह कैसा भी कोई साम्य नहीं रखता। इसलिये ये ८४ संख्या बताने वाले निशान नहीं हैं।[६]

इस प्रकार यह अभिलेख जैन इतिहास एवं संस्कृति का परिचायक दस्तावेज है। प्राचीनता और अपनी स्थान-स्थिति के कारण भी इसका अपना महत्त्व है।

—परमेश्वर सोलंकी

६. पं० ओझा ने इस सम्बन्ध में अपना मत स्पष्ट नहीं किया। डॉ० जायसवाल ने इसे अंकों और अक्षरों में लिखा होना बताकर नंद संवत् के रूप में पहचाने का सुझाव दिया है। दूसरे विद्वान् केवल ८४ अंकों को किसी संवत्सर के अंक न होने अथवा होने के सम्बन्ध में परिश्रम करते रहे हैं।

वस्तुतः यह उल्लेख संघ से पृथक् अपना संप्रदाय बनाकर आचार्य बनें, आचार्य माहिल के पट्टाभिषेक की कालावधि को ज्ञापित करता है जो महावीर परिनिर्वाण से परिगणित है। संभवतः कालान्तर में यही संवत्सर-उल्लेखों में भी कारण बना हो।

तुलसीप्रज्ञा

अनुक्रमणिका

संपादकीय—बड़ली जैन शिलालेख का महत्त्व और उसका अक्षर विन्यास

१. वर्द्धमान ग्रन्थागार, लाडनूं की प्रत् और ऋग्वेद का ग्रन्थाग्र: परिमान २७३

२. जिनागमों का संपादन २८५

३. रत्नपालचरित : एक साहित्यिक अनुशीलन ३९३

४. जिनसेनकृत हरिवंशपुराण में प्राचीन राजतंत्र का स्वरूप ३०९

५. डॉ० कृष्णदत्त बाजपेयी—श्रद्धांजलि ३१६

६. तेरापंथ का संस्कृत साहित्य : उद्भव और विकास-४ ३१७

७. न्याय-वैशेषिक, योग एवं जैन दर्शनों के संदर्भ में ईश्वर ३२३

८. स्याद्वाद : आधुनिक परिप्रेक्ष्य में ३३१

English Section

1. Copper Hoard—An unpublished find from Chithwari, Chomu 141

2. Victory over Sex (A Technique of Spiritual Science) 145

3. Rāghava Bhaṭṭa on Māgadhī in the Abhijñana Śākuntalam 151

4. The Mahāvīra Era 1—56

लेखक | The Contributors

१. डॉ० परमेश्वर सोलंकी, तुलसी प्रज्ञा, वर्द्धमान ग्रन्थागार,
जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं

२. श्रीमान् जौहरीमल पारख, सेवा मंदिर, रावटी, जोधपुर-३४२०२४

३. डॉ० हरिशंकर पाण्डेय, व्याख्याता, प्राकृत भाषा एवं साहित्य विभाग,
जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं

४. डॉ० सोहनकृष्ण पुरोहित, सह-आचार्य, इतिहास विभाग, जयनारायण व्यास
विश्वविद्यालय, जोधपुर

५. मुनिश्री गुलाबचन्द्र 'निर्मोही', शिष्य आचार्यश्री तुलसी

६. डॉ० कमला पंत, द्वारा—डॉ० जे. एन. जोशी, कृष्णापुर महल, तल्लीताल, नैनीताल

७. समणी स्थितप्रज्ञा, जैन विद्या विभाग, जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं

1. Shri Harphool Singh, R. O , Archaeology & Museums
Rajasthan, Bikaner
2. J. S. Zaveri, Tulsi Adhyatma Needam, JVB, Ladnun
3. Muni Shri Mahendrkumar
4. Jagat Ram Bhattacharya, Deptt. of Prakrit languaga & literature
5. Dr. Parmeshwar Solanki, Tulsi Prajna, JVBI, Ladnun
6. Pro. Upendranath Roy, Mateli
7. Dr. J.V. Tagare, Sangali
8. Shri K.V. Pathak —

फार्म-४

(नियम ८ देखिए)

१. प्रकाशन	:	'तुलसी प्रज्ञा'
२. प्रकाशित अवधि	:	त्रैमासिक
३. संपादन	:	संपादक मण्डल : डॉ० दशरथ सिंह डॉ० देवनारायण शर्मा डॉ० के० कुमार डॉ० राय अश्विनी कुमार प्रबन्ध संपादक : डॉ. परमेश्वर सोलंकी
राष्ट्रीयता	:	सभी भारतीय
पता	:	जैन विश्व-भारती संस्थान, मान्य विश्वविद्यालय, लाडनूं
४-५. प्रकाशक/मुद्रक	:	डॉ० परमेश्वर सोलंकी
राष्ट्रीयता	:	भारतीय
पता	:	जैन विश्व-भारती संस्थान, मान्य विश्वविद्यालय, लाडनूं
६. स्वामित्व	:	जैन विश्व-भारती संस्थान, मान्य विश्वविद्यालय, तुलसीग्राम, लाडनूं

मैं परमेश्वर सोलंकी एतद् द्वारा घोषणा करता हूं कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार ऊपर दिए गए विवरण सत्य हैं।

दिनांक २८ फरवरी, १९९३

परमेश्वर सोलंकी
प्रकाशक

वर्द्धमान ग्रंथागार, लाडनूं की प्रत् और ऋग्वेद का ग्रंथाग्र : परिमान

☐ डॉ० परमेश्वर सोलङ्की

साधारणतया माना जाता है कि प्रजापति ने कुल बारह हजार बृहती छन्द बनाए।[1] एक बृहती छन्द में ३६ अक्षर होते हैं जिससे ऋग्वेद में कुल ३६ × १२००० = ४,३२००० अक्षर हुए। मनुस्मृति ने चार, चार सौ वर्षों की संध्या और संध्यांश सहित चार हजार वर्ष के काल को **कृत**, उसके तीन चौथाई भाग को **त्रेता**, दो चौथाई को **द्वापर** और एक चौथाई भाग को **कलि** नाम दिया है। तदनुसार इन चारों का महायुग भी १२००० वर्ष का होता है जो ३० दिन के माह और १२ माहों के वर्ष, गणना से वेद अक्षर तुल्य ४,३२००० से दस गुणा होता है।[2] यही कथन ऋग्वेद की अनेकों ऋचाओं में है और यजुर्वेद की शुक्ल, कृष्ण संहिताओं में है कि कृत, त्रेता, द्वापर, कलि का सभास्थाणु (यज्ञयूप ?) होता है जिसका दस गुणा युग और सौ दस गुणा (हजार गुणा) कल्प अथवा युगान्तर होता है।[3]

ऋग्वेद की एक ऋचा (१.१६४.४८) में संवत्सर की व्याख्या है। वहां लिखा है कि १२ भागों में विभक्त ३६० अंशों का चक्र, सर्दी-गर्मी-वर्षा रूपी तीन नाभियों पर आधृत है। मानव दिन रात में १०८०० प्राण + अपान लेता-छोड़ता है। वर्ष में संवत्सर मुहूर्त्त भी १०८०० होते हैं। तदनुसार ऋग्वेद की पंक्तियां भी १०८०० मानी जाती हैं। एक पंक्ति छन्द में ४० अक्षर होते हैं, इसलिए वेद में भी ४० × १०८०० = ४,३२००० अक्षर हुए।[4]

इस प्रकार ऋग्वेद का परिमान अथवा ग्रन्थाग्र ४,३२००० अक्षर होना अभिप्रेत है किन्तु 'चरण व्यूह' में लिखा मिलता है—

"ऋचां दश सहस्राणि ऋचां पंचशतानि च ऋचामशीतिः पादश्च (१०५८०) तत्पारायण मुच्यते।"

—कि ऋग्वेद में कुल १०५८० मंत्रों से पारायण पूरा हो जाता है। इससे ग्रन्थाग्र बृहती छन्द अनुसार गणना से ३८०८८० अक्षर अथवा पंक्ति छंद अनुसार गणना से ४२३२०० अक्षर बनेगा जो उपर्युक्त गणना से ५११२० या ९८०० अक्षर अथवा १४०० बृहती छंद या २४५ पंक्ति छन्द परिमान कम है।

कतिपय विद्वान् शुक्ल यजुर्वेद (अध्याय-२३) की यजूंषि में आये प्रश्नोत्तर से— "कत्यस्य विष्टाः कत्यक्षराणीति" ? "षडस्य विष्टाः शतमक्षराणीति"—कि यज्ञ में जैसे मधुर अम्लादि षड् रस वाले पदार्थ हव्य होते हैं वैसे ही सौ, सौ अक्षरांक ("अक्षर

पंक्तिश्छन्दः''—यजु० १५.४ और ''अङ्काङ्कं छन्दः''—यजु० १५.५ अनुसार) होना मानते हैं। अर्थात् गायत्री (२४ अक्षर)+अतिधृति (७६ अक्षर), उष्णिहः (२८)+धृति (७२), अनुष्टुभ् (३२)+अत्यष्टि (६८), बृहती (३६)+अष्टि (६४), पंक्ति (४०)+अतिशक्वरी (६०), त्रिष्टुभ् (४४)+शक्वरी (५६), जगती (४८)+अति जगती (५२)—इस प्रकार सौ, सौ, अक्षरों—अंकों के सात छन्द युग्म (ऋग्वेद १०.१७.३) हैं जो यज्ञवाक् के रूप में ऋषि मुखों में प्रविष्ट होकर स्तुति रूप में गाये जाते हैं। ऋग्वेद की ऋचा (३.८.११) के अनुसार यह छन्द युग्म शतावधी से सहस्रावधी शाखाओं में परिणित होते हैं।

इस प्रकार सात छन्द युग्मों के शत, शत अक्षरांक = सात सौ अक्षरांक, सहस्रावधी तक सात लाख अक्षरांक होते हैं जिनके पंक्ति छन्दाक्षर १७५००० हजार और उनके छन्द चरण (पाद) ४३७५० बनते हैं। ये छन्द पाद ऋग्वेद के मान्य छन्द पाद ४०१०० से ३६५० अधिक हैं और उपर्युक्त ४,३२००० पंक्ति छन्द अक्षरों के ४३२०० छन्द पादों से भी ५५० अधिक हैं।[५]

इस न्यूनाधिकता का कारण विद्वानों ने यह माना है कि ऋग्वेद कालीन आर्यों में **देवता, स्तुति, लक्षण** प्रधान धर्म व्यवहृत था। उसमें कालान्तर में परिवर्तन हुआ और यज्ञ कर्म क्रिया बोधक ऋचाएं पृथक् की जाकर यजुर्वेद आदि का विभागीकरण हुआ। इससे अपकृष्टतावश ऋग्वेद में भी यजुर्वेद, सामवेद प्रतिपाद्य कर्म के बहुत से मंत्र शामिल रह गए। जैसे ऋग्वेद में कतिपय निम्न मंत्र पठित हैं—

अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि।
स इद्देवेषु गच्छति॥
—(१.१.४)

समिधाऽग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्।
अस्मिन् हव्या जुहोतन॥
—(८.४४.१)

सद्योजातो व्यमिमीत यज्ञमग्निर्देवानाममवत् पुरोगाः।
अस्य होतुः प्रतिश्मृतस्यवाचि स्वाहाकृतं हविरदन्तु देवाः॥
—(१०.११०.११)

—ये मंत्र स्पष्टतया यज्ञकर्म विधान को विस्तार देने वाले हैं। जैसे—''यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा स्तानि धर्म्माणि प्रथमान्यासन्नि'' त्यादि मंत्र यज्ञ कर्म का ही संकीर्त्तन करते हैं। इसी प्रकार कुछ मंत्र ऋग्वेद के सूक्तों से पृथक् भी हो गए हैं। जैसे ऋग्वेद (१०.१२१) में दस मंत्रों का सूक्त जो ''कस्मै देवाय हविषा विधेमः''—छन्द पाद से समाप्त होने वाले मंत्रों का है, उसमें नौ ही मंत्र हैं और उसका दसवां मंत्र अथर्ववेद में निम्न प्रकार पठित है—

आपोवत्सं जनयंतीर्गर्भमग्रे समैरयन्।
तस्योत जायमानस्य उल्व आसीत् हिरण्ययः।
कस्मै देवाय हविषा विधेम॥
—**अथर्ववेद (४.२.८)**

२. एक मान्य सिद्धान्त यह है कि सृष्टि-निर्माण से पूर्व दृश्यमान, विश्व ब्रह्म रूप था। उस ब्रह्मरूप में 'अहं ब्रह्मास्मीति'—ऐसा आत्म साक्षात्कार हुआ और बाद में उस ब्रह्मरूप में से ही यह समस्त ब्रह्माण्ड (विश्व) निर्मित हुआ। इस सिद्धान्त का व्याख्यान ऐतरेय ब्राह्मण में मिलता है—

'प्रजापतिरकामयत प्रजायेय भूयान्स्यामिति। स तपोऽतप्यत्। स तपस्तत्वेमान् लोकानसृजत पृथिवीमन्तरिक्षं दिवम्। तान् लोकानभ्यतपत् तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रीणि ज्योतींष्यंजायन्ताग्निरेव पृथिव्या अजायत वायुरन्तरिक्षादादित्यो दिवः। तानि ज्योतींष्यंभ्यतपत् तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायत। ऋग्वेद एवाग्नेरजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्यात्। तान् वेदानभ्यतपत् तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रीणि शुक्राण्य जायत भूरित्येव ऋग्वेदादजायत भुव इति यजुर्वेदात् स्वरिति सामवेदात्। तानि शुक्राण्यभ्यतपत् तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयो वर्णा अजायान्ताकार उकारो मकार इति। तानेकधा समभरत्तदेतदोमिति।'

अर्थात् प्रजापति ने अपना विस्तार किया और पृथिवी, अन्तरिक्ष व दिव लोक बनें। इस त्रिलोक से तीन ज्योति और उससे अग्नि, वायु, सूर्य निर्माण हुए। अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद और सूर्य से सामवेद। पुनः वेदत्रयी से तीन बीज वर्ण **अ उ म्** बनें जो समभरण से **ओम्** (गणेशाकृति) बन गए।

इस प्रकार आरंभ में प्रजापति ने प्रणव व्याहृति को देखा और कालान्तर में ऋषियों ने स्व स्व तपोबल से मंत्र विभागों को पाया और प्रकाशित किया। इस व्याख्यान को ऋग्वेद में इस प्रकार कहा गया है—

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्माद जायते।।

कि उस यज्ञरूप प्रजापति से ही ऋचा, सामानि और यजूंषि रूप छन्द (वेद मंत्र) प्राप्त हुए हैं। पुनः इसी बात को 'धाता यथा पूर्वमकल्पयत्'—कहकर दौहराया गया है—

युगान्तेन्तर्हितान्वेदान् ऐतिहासान् महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा।।

३. दूसरे विद्वानों का मानना है कि **कर्म, उपासना** और **ज्ञान** लक्षण प्रतिपाद्य वेदत्रयी बहुशाखा-प्रशाखा भेद से विस्तृत हो गई है। मूलतः उसमें एकरूपता है—

सर्वं वेदेष्वनेकत्वमुपास्ते रथवैकता।
अनेकत्वं कौथुमादि नामधर्म विभेदतः।।

और केवल नामधर्म विभेद से अनेकता दृष्टिगत होती है। मंत्राणां संहति संहिता। पद प्रकृतिः संहिता। वर्णानामेक प्राण संयोगः संहिता। इत्यादि स्मृति—प्रयोजन से क्रम निर्धारित किये गये हैं। इस संबंध में मान्य सिद्धान्त यह है—

यज्ञो ब्रह्म च वेदेषु द्वावर्थौ काण्डयोर्द्वयोः।
अध्वर्यु मुख्यैर्ऋ त्विग्भिश्चतुर्भिर्यज्ञ संपदः।।
निर्ममीते क्रिया संघैरध्वर्युर्यज्ञियं वपुः।
तदलं कुर्वते होता ब्रह्मोद् गातेत्यमीत्रयः।।

शस्त्रयानुवाक्याभि होतालं कुरुतेऽध्वरम् ।
आज्यपृष्ठादिभिः स्तोत्रैरुद् गातालं करो त्यमुम् ।
त्रयाणामपरार्द्धं तु ब्रह्मा परिहरेत् सदा ।
ऋचां (८.३.४४) इति मन्त्रेऽस्मिन्नर्थः सवाऽभिधीयते ।।

—कि चतुर्भिर्यज्ञसंपद को अध्वर्यु निर्माण करता है और होता, ब्रह्मा व उद्गाता उसे अलंकृत करते हैं जबकि अध्वर्यु, होता, उद्गाता के अपरार्द्ध को ब्रह्मा नियमन करता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में इस संबंध में लिखा मिलता है—

ऋग्वेदेन होता करोति
यजुर्वेदेनाध्वर्युः
सामवेदेनोद् गाता
अथर्ववेदो ब्रह्मा ।

—कि ऋग्वेद से होता, यजुर्वेद से अध्वर्युः, सामवेद से उद्गाता और अथर्वो (मंत्रों) से ब्रह्मा यज्ञ करते हैं। गोपथ ब्राह्मण ने—

अथर्वाङ्गिरोभि ब्रह्मत्वम् ।
अथर्वाङ्गिरोविद् ब्रह्माणम् ।।

कहकर अथर्ववेद के ज्ञाता ही को "ब्रह्मा" कह दिया है। सायणाचार्य के शब्दों में—

जाते देहे भवत्यस्य कटकादि विभूषणम् ।
आश्रितं मणिमुक्तादि कटकादौ यथा तथा ।।
यजुर्जाते यज्ञ देहे स्यादृग्भिस्तद्विभूषणम् ।
सामाख्या मणि मुक्ताद्या ऋक्षु तासु समाश्रिताः ।।

—जैसे बाल वपु को मणि मुक्तादि से सुशोभित किया जाता है वैसे ही यजुर्वेद से बनें **यज्ञ-देह** को ऋग्वेदादि से विभूषित कर साम गीतियों से सजाया जाता है। स्वयं अथर्ववेद (१०.७.२०) में इसके लिए यह व्याख्यान है—

यस्माद्चो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन् ।
सामानि यस्य लोमानि अथर्वांगिरसो मुखम् ।।

कि जिस यज्ञ पुरुष से ऋचाएं और यजूंषि प्राप्त हुईं, सामानि (सामगीतिकाएं) भी उसी अथर्वांगिरस के मुख से प्रसरित हैं।[६]

४. अन्य विद्वानों का कथन है कि संधि आदि के साथ ऋचाओं को, ज्यों के त्यों पठन को **'निर्भुज-संहिता'** और जिनमें संधि आदि बिना केवल पदों का उच्चारण हो, उन्हें **'प्रतृण्ण संहिता'** कहा जाता है। जैसे "अग्निमीळे पुरोहितम्"—इत्यादि 'निर्भुज संहिता' का क्रम है और "अग्निम् ईळे पुरः हितम्"—इत्यादि 'प्रतृण्ण संहिता' का क्रम होता है। आगे चलकर इन दोनों के योग और घन योग आदि से आठ प्रकार की संहिताएं बना ली गईं ताकि मूल वेदपाठ में कैसी भी कोई विकृति न आने पाए। ऐतरेय आरण्यक (३.१३) में यह व्यवस्था बताई गई है—

यद्धि सन्धि विवर्तयति तन्निर्भुजस्य रूपम् ।
अथ यच्छुद्धे अक्षरे अभिव्याहरति तत्प्रतृण्णस्य ।।

× × ×

अग्र उ एवोभयमन्तरेणोभय व्याप्तं भवति ।

महर्षि वेदव्यास की "विकृतवल्ली" में यह क्रम संहिताएं निम्न प्रकार कही गई हैं—

जटा माला शिलालेखा ध्वजो दण्डो रथो घनः ।
अष्टौ विकृतयः प्रोक्ताः क्रमपूर्वा मनीषिभिः ।।

उपर्युक्त विधि से यजुर्वेद का परिमान बहुत अधिक विस्तृत हुआ और तैत्तिरीय, काण्वादि, चरकशाखीय, मैत्रायणीय और वाजसनेय आदि अनेकों शाखाएं बन गईं ।

इस संबंध में सर्वानुक्रमणी में लिखा मिलता है—

देवा यज्ञं ब्राह्मणानुवाको विंशतिरनुष्टुभः सोमसम्पत् ।

—अर्थात् यजुर्वेद १७.१२ के "देवा यज्ञमतन्वत" मंत्र से बीस अनुष्टुभ तक ब्राह्मण भाग हैं ।

अश्वस्तूपरो ब्राह्मणाध्यायः शावंदद्भिस्त्वचान्तश्च ।

—यजुर्वेद का २४वां अध्याय और २५ वें में "शादं" से "त्वचा" तक नौ मंत्र भी ब्राह्मण भाग हैं । पुनः—

ब्राह्मणे ब्राह्मणमिति द्वे काण्डिके तपसे अनुवाकश्च ब्राह्मणम् ।

—कि तीसवें अध्याय में 'ब्राह्मणे ब्राह्मणम्' की दो काण्डिका और तपस अनुवाक भी ब्राह्मण है । अर्थात् उसमें मंत्र विभाग और ब्राह्मण भाग मिल गया है ।

ऋग्वेद की भी अनेकों शाखाएं बनीं किन्तु उसमें यजुर्वेद की तरह मिश्रण नहीं हुआ । उसमें भी वालखिल्य आदि जुड़े हैं परन्तु परिशिष्ट के रूप में जुड़े हैं । अनुवाकानुक्रमणी में लिखा है—

सहस्रमेतत् सूक्तानां निश्चितं खैलकैर्विना ।

कि खिल भाग को छोड़कर ऋग्वेद में एक सहस्र सूक्त निश्चित हैं । ऋक् प्रातिशाख्य में भी लिखा है—

ऋचां समूह ऋग्वेदस्तमभ्यस्य प्रयत्नतः ।
पठितः शाकलेनादौ चतुर्भिस्तदनन्तरम् ।।
शांखाश्वलायनौ चैव माण्डूक्ये बाष्कलस्तथा ।
बह्वृचा ऋषयः सर्वे पंचैते एक वेदिनः ।।

कि आरम्भ में शाकल संहिता बनीं और तदनु उसके चार शिष्य—बाष्कल, आश्वलायन, शांखायन और माण्डूक की शाखाएं संग्रह हुईं । विष्णु पुराण में शाकल के पांच शिष्यों के नाम किंचित् भिन्न प्रकार से दिये हैं—

मुद्गो गोकुलो वात्स्यः शैशिरः शिशिर स्तथा ।
पंचैते शाकलाः शिष्याः शाखाभेद प्रवर्त्तकाः ।।

—और 'विकृतवल्ली' के टीकाकार ने कहीं से एक अन्य श्लोक निम्न प्रकार से उद्धृत किया है—

शिशिरो बाष्कलः शांखो वातश्चैवाश्वलायनः ।
पंचैते शाकलाः शिष्याः शाखा भेद प्रवर्त्तकाः ॥

इस पाठ भेद का कारण यह दीख पड़ता है कि शाकल के शिष्य चार या पांच से अधिक थे और उन्होंने सभी ने ऋग्वेद की संहिताएं तैयार कीं। यदि ऐसा मान लें कि शाकल ने स्वयं 'निर्भुज संहिता' तैयार की और उसके नौ शिष्य—बाष्कल, आश्वलायन, शांखायन, माण्डूक, मुद्ग, गोकुल, वात्स्य, शैशिर और शिशिर ने क्रमशः प्रतृण्ण, जटा, माला, शिला, लेखा, ध्वज, दण्ड, रथ और घन पाठ भेद वाली संहिताएं तैयार कीं तो यह युक्तिसंगत लगता है। क्योंकि शाकल संहिता के संबंध में ऐतरेय ब्राह्मण (१४ ५) में लिखा मिलता है—

यदस्य पूर्वमपरं यदस्य यद्वस्य परं तद्वस्य पूर्वम् ।
अहेरिव सर्पणं शाकलस्य न विजानन्ति यतरत् परस्तात् ॥

कि शाकल संहिता का जैसा आदि है वैसा ही अन्त है और जैसा अन्त है वैसा ही आदि है। वह तो सर्प की चाल की तरह एक समान है और उसमें कहीं कोई गति में भेद नहीं है। अर्थात् पूर्णतया शुद्ध है।

पातंजल महाभाष्य में ऋग्वेद की २१ शाखाएं बताई गई हैं—"एक विंशतिधा बाह्वृच्यम्" जो कूर्म पुराण में भी 'एक विंशति भेदेन ऋग्वेद कृतवान् पुरा'—कथन से कही गई हैं; किन्तु न तो २१ शाखाओं के नाम आदि मिलते हैं और नहीं उनकी प्रतियां अथवा न्यूनाधिक पाठ ही उपलब्ध होता है। वर्तमान में केवल **शाकल, बाष्कल** और **शांखायन** शाखाओं की सम्पूर्ण या अपूर्ण पाठों वाली प्रतियां उपलब्ध हुई हैं।[७]

५. ऋग्वेद के परिमान के सम्बन्ध में पुरातन मान्यता इस प्रकार है—

ऋग्वेदस्य सप्तदशाधिकमेक सहस्रं सूक्तानि ।
षडधिक द्वे सहस्रे वर्गाः । चतुः षष्ठिरध्यायाः ।
दश मण्डलानि । अष्टौ अष्टकानि । इत्येवं विभागः ॥

कि ऋग्वेद में १०१७ सूक्त, २००६ वर्ग, ६४ अध्याय, १० मण्डल और ८ अष्टक हैं। अलग-अलग कहें तो एक स्वरूप में ८ अष्टकों में ६४ अध्याय और १०२८ सूक्त मिलते हैं और दूसरे स्वरूप में १० मण्डलों में ८५ अनुवाक और २०२४ वर्ग हैं। मंत्रों की संख्या १०५५२ मानी गई है और बालखिल्य आदि परिशिष्ट में ९१ सूक्त और १७१६ मंत्र गिने गये हैं। संत तुकाराम की अभंग में भी ऋग्वेद की मंत्र संख्या १०५५२ दी है और सूक्त भी १०२८ बताये गये हैं।[८]

सन् १९३३ में प्रिंसिपल वी. के. राजवाड़े, वासुदेव शास्त्री अभ्यंकर, एन. एस. सोनटक्के और पं० टी. एस. वरदराज शर्मा के संपादकत्व में ऋग्वेद का सायणभाष्य छपना शुरू हुआ और उसकी पांच जिल्दें निकलीं। उसमें कुल १०३८१ मंत्र लिये गये हैं। बालखिल्य तथा खिल भाग के ९१ सूक्तों में ३८८ मंत्र पृथक् से दिए हैं।[९]

सन् १९६९ में भारतीय चरित्र कोश मंडल, पुणें से ऋग्वेद का मराठी भाषान्तर प्रकाशित हुआ है। उसमें सूक्त १०२८+१०३ और मंत्र १०५५२+१७१६ तथा वर्ग २०२४ दिए हैं।[१०]

वस्तुतः ऋग्वेद सूक्तों का संग्रह है। सूक्त एक ऋषि अथवा एक ऋषि परिवार की कृति है। इन सूक्तों का बहुविध संकलन हुआ है। **एक संकलन** ऋषि सूक्तों का हुआ जैसे "अग्नि मीळे" से "इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्" मंत्र तक एक ऋषिसूक्त, ऋषि मधुछन्दसा का है। दूसरा ऋषि-सूक्त जो "इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्" आदि आठ ऋचाओं का है, वह मधुछन्दस पुत्र जेता ऋषिपुत्र का है। **दूसरा संकलन** देवता सूक्तों के रूप हुआ जैसे "अग्नि मीळे पुरोहितम्"—से अग्नि सूक्त और "वायवायाहि दर्शत" —आदि से वायु सूक्त। **तीसरा संकलन** छन्द सूक्तों के रूप में हुआ जैसे "अग्नि मीळे पुरोहितम्" से अष्टादश वर्ग पर्यन्त "गायन्ति त्वा गायत्रिन्" —से पूर्व तक का गायत्री छन्दः सूक्त। इसीलिए बृहद्देवता (१.१४) में शौनक कहते हैं—

देवतार्षार्थ छन्देभ्यो वैविध्यं तस्य जायते।

पुनः आठ अध्यायों के अष्टकों के रूप में ऋग्वेद का आठ अष्टकों में विभक्ति-करण हुआ जो संभवतः पहला सर्व सम्मत विभागीकरण था। कालान्तर में यज्ञ कर्म के लिए अनुवाक बनें और ८५ अनुवाकों में मंत्रों को विभागीकृत कर दिया गया। यह विभाग सर्वसम्मत न था। पृथक्-पृथक् शाखाओं में प्रथक्-प्रथक् अनुवाक संख्या होने का एक संदर्भ तैत्तिरीय आरण्यक में निम्न प्रकार लिखा मिलता है।

अस्याः शाखा भेदेन अनुवाक संख्या भेदो वर्तते।
तत्र द्राविडैरस्याश्चतुषष्टि संख्याकानुवाकाः पठ्यन्ते॥
आन्ध्रैरस्याशीत्यनुवाकाः। कर्णाटकैश्चतुः सप्तत्यनुवाकाः।
अन्यैरेकोननवत्यनुवाकाः परिपठ्यन्ते॥

अष्टकों में प्रायः १२०० से १३०० ऋचाएं थीं और २०० से ३०० वर्ग; किन्तु अनुवाकों से यह विभागीकरण ऊथल-पुथल (गडमड) हो गया। अन्त में ऋषियों ने ऋग्वेद को अलग-अलग दस मण्डलों में बांध दिया।

'सर्वानुक्रमणिका' में आचार्य शौनक ने कहा है—

य आङ्गिरसः शौनको होत्रो भूत्वा भार्गवः।
शौनकोऽभवत्स गृत्समदो द्वितीय मण्डलमपश्यविति॥

—कि गृत्समद ने संपूर्ण द्वितीय मण्डल को देखा जबकि वह स्वयं ही वहां अनेक ऋषियों के अलग-अलग सूक्त भी बनाता है। इसलिए यही मान्यता पुरस्करणीय है कि मण्डलों के संकलनकर्त्ता भी ऋषि ही हैं।

आश्वलायन गृह्यसूत्र में लिखा भी है—

शतर्चिनो माध्यमा गृत्समदो विश्वा मित्रो।
वामदेवोऽत्रिर्भरद्वाजो वसिष्ठः प्रगाथाः।
पावमान्याः क्षुद्रसूक्ता महासूक्ताः॥

अर्थात् **प्रथम मण्डल** को मधुछन्द से अगस्त्य पर्यन्त १६ ऋषियों ने संग्रह किया।

दूसरे मण्डल को गृत्समद ने, **तीसरे** को विश्वामित्र ने, **चौथे** को वामदेव ने, **पांचवें** को अत्रि ने, **छठे** को भारद्वाज ने, **सातवें** को वसिष्ठ ने, **आठवें** को प्रगाथा ने और **नौवें** मण्डल को पावमान्य ने संग्रह किया। **दसवें मण्डल** को, एक से दस ऋचाओं के क्षुद्र और दस से अधिक ऋचाओं के महासूक्त के रूप में, अनेकों ऋषियों ने संग्रह किया। इन संग्रहकर्त्ताओं को ही क्रमशः शतर्चिन, मध्यम, क्षुद्र-महासूक्त संग्रहकर्त्ता कहा गया है।[११]

ऋषियों में भी ऋषि, ऋषिपुत्र, ऋषिकपौत्र, नप्ता आदि और ऋषिका शामिल हैं। जैसे तीसरे मण्डल के ऋषि-विश्वामित्र का पुत्र मधुच्छन्द, पौत्र जेता। अंगिरस के पुत्र रहूगणः पौत्र गोतम, नप्ता वामदेव और प्रणप्ता बृहदुक्थ्य। इसी प्रकार तीसरे अष्टक में 'ममद्विते' त्यादि दश ऋचाओं के सूक्त के ऋषि राजर्षि पुरुकुत्स पुत्र त्रसदस्यु। 'कउश्रव' दिति सात ऋचाओं के सूक्त की ऋषिका पुरुमीढ-अजमीढ-सुहोत्र राजा की पुत्री वृषी। आठवें अष्टक के द्वितीय अध्याय में 'अग्निरिन्द्र' इत्यादि पांच ऋचाओं तथा 'देवान् हुवे' आदि पन्द्रह ऋचाओं के ऋषि वसुक पुत्र वसुकर्ण। चतुर्थ अष्टक के प्रथम अध्याय में 'समिद्धो अग्निः' आदि छह ऋचाओं की ऋषिका अत्रिपुत्री विश्ववारा और आठवें अष्टक के छठे अध्याय में 'ते वदन्नि' ति सात ऋचाओं की ऋषिका ब्रह्मजाया जुहू तथा आठवें अष्टक के छठे अध्याय में पठित 'इन्द्रस्य दूतीरिषिता चरामी' ति और 'नाहं तं वेदे' ति मन्त्रों की दृष्टा ऋषिका सरमा देवशुनी। इत्यादि।[१२]

सारांश

इस प्रकार ऋग्वेद के परिमान में सुदीर्घकाल से कैसा भी कोई परिवर्तन इत्यादि नहीं हुआ और यह अविकल रूप में सुरक्षित और संरक्षित है। इसके वर्तमान स्वरूप को कम से कम आचार्य शौनक के समय से ज्यों के त्यों बने रहने के बहुविध प्रमाण उपलब्ध हैं। महर्षि वेद व्यास ने 'विकृतवल्ली' की रचना की है। उससे भी यही स्पष्ट होता है कि उन्होंने ऋग्वेदादि के परिमान में कैसा भी कोई हस्तक्षेप नहीं किया। केवल उन्होंने विशालकाय वैदिक वाङ्मय को संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषदादि के रूप में व्यवस्थित कर दिया। इसलिये वे 'वेदव्यास' कहे गये।[१३]

ऋग्वेद में वैवस्वतमनु, नाभानेदिष्ठ, मांधातृ, यौवनाश्व, सत्यव्रत त्रिशंकु, त्रैय्यारूण, हरिश्चन्द्र, सगर, अंशुमत्, अंबरीष, अयुतायु, ऋतुपर्ण, दीर्घबाहु, रघु, अज, दशरथ, रामदाशरथि आदि ईश्वाकु राजा गण उल्लिखित हैं जो महाभारत युद्ध से लगभग १००० वर्ष पूर्व हो चुके हैं। अतः इस आधार पर भी ऋग्वेद का वर्तमान स्वरूप महाभारत युद्ध से बहुत पहले स्थिर हो जाना प्रमाणित होता है।

वर्द्धमान ग्रन्थागार की प्रत[१४]

जैन विश्व भारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय) के केन्द्रीय पुस्तकालय—वर्द्धमान ग्रन्थागार में ऋग्वेद संहिता की एक दुर्लभ प्रतृण संहिता प्रत् सुरक्षित है। इस दुर्लभ पत् को पं० सदाशिव उपाध्याय के पुत्र सखोबा उपनाम पराड़कर ने ज्येष्ठ

बदि सप्तमी सोमवार 'प्रमोद' संवत्सर विक्रमी सं० १८५६ को एक अष्टक पूर्ण करके कार्तिक वदि द्वितीया सोमवार 'वृष' संवत्सर सं० १८६७ को लिखकर पूर्ण किया है। प्रतिलिपि सुवाच्य और निर्भ्रान्त है। प्रत्येक अष्टक में क्रमशः ८३ + ७४ + ८० + ८१ + ८१ + ९२ + ९४ + ९२ क्रम से कुल ६७७ पत्रक हैं।

प्रत् के आठ अष्टकों में आठ, आठ अध्याय पूरे हैं। मंत्र (ऋचाएं) व्याकृत शैली में स्वराघात चिह्नों के साथ लिखे गये हैं। मंत्रों की संख्या निश्चय ही दश मण्डलात्मक ऋग्वेद से कम होगी किन्तु उसके प्रथम दो अष्टक प्रिंसिपल राजवाड़े के संस्करण से मेल खाते हैं। केवल द्वितीय अष्टक में 'इळामग्रे ·· वस्मे''—इत्यादि एक मंत्र नहीं है और कतिपय मंत्रों में आरंभिक पद छोड़े हुए हैं।

परिचयार्थ नीचे प्रथम अष्टक का पहला मंत्र समूह उद्धृत किया जा रहा है—

"हरि हिः ३ॐम् ॥ अग्निं । इळ । पुरःऽहितं ।
यज्ञस्य स्ये । देवं । ऋत्विजं । होतारं । रत्नऽधातमं ॥
अग्निः । पूर्वेभिः । ऋषिऽभिः । ईड्येः । नूतनैः ।
उत । सः । देवान् । आ । इह । वक्षति ।
अग्निना । रयिं । अश्वत् । पोषं । एव । दिवेऽदिवे ।
यशसं । वीरवत्ऽनमं ।
अग्ने । यं । यज्ञं । अध्वरं । विश्वतः । परिऽभूः । असि ।
सः । इत् । देवेषु । ग छ ति ।
अग्निः । होता । क वि ऽ क्र तुः । सत्यः । चित्रश्रवऽतमः ।
देवः । देवेभिः । आ । गमत ॥१॥"

—उक्त पांच मंत्रों का पहला समूह देखने से यह स्पष्ट होता है कि इस प्रत् से मिलान करके वर्तमान प्रकाशित प्रतियों के स्वरूप को देखा-परखा जा सकता है और दशमण्डलात्मक एवं आठ अष्टक वाले स्वरूपों के विभेद को भी उजागर किया जा सकता है। □

संदर्भ

१. (i) बह्वृचानां शाकलीया द्वादशतायी (दाशतायी ?)संहिता—ऐतरेयारण्यकम्।
(ii) द्वादश वृहती सहस्राणि एतावत्यो ह्यर्चो याः प्रजापतिसृष्टाः ॥
—शतपथ ब्राह्मण (१०.४.२.२३)
(iii) आजकल ऋग्वेद में १०५८० मंत्र, १५३८२६ पद अथवा ४ ३२००० अक्षर माने जाते हैं।

२. मनुस्मृति (प्रथम अध्याय) में 'चतुर्युग' को १२००० बारह सहस्र वर्षों का "देवतायुग" कहा गया है। ब्रह्माण्ड पुराण (१.२.२९-३६) में इसे स्पष्ट कर दिया गया है—

'तेषां द्वादश साहस्री युग संख्या प्रकीर्तिता।
कृतं त्रेता द्वापरं च कलिश्चैव चतुष्टयम् ॥

अत्र संवत्सराः सृष्टा मानुषेण प्रमाणतः।
कृतस्य तावद् वक्ष्यामि कालं तञ्च निबोधत ॥
सहस्राणां शताब्दाहुश्चतुर्दश हि संख्यया।
चत्वारिशंत्सहस्राणि तथाहि कृतं युगम् ॥
तथा शत सहस्राणि वर्षाणि दश संख्यया।
अशीतिश्च सहस्राणि कालस्त्रेतायुगस्य सः ॥
सप्तेव नियुतान्याहुरब्द सहस्रकाणि तु।
विंशतिश्च सहस्राणि कालः स द्वापरस्य च ॥
तथा शत सहस्राणि वर्षाणां त्रीणि संख्यया।
षष्टिश्चैव सहस्राणि कालः कलियुगस्य च ॥
एवं चतुर्युगे कालः शून्यैः संध्यांशकैः स्मृतः।
नियुतान्येव सप्त विंशतिश्चैव भवति वै ॥
चत्वारिंशत्तथा त्रीणि नियुतानीह संख्यया।
विंशतिश्च सहस्राणि ससंध्यश्च चतुर्युगः ॥'

अर्थात् १२००० वर्षों के युग में कृत, त्रेता, द्वापर, कलि—चार भाग होते हैं जिनमें क्रमशः १४४० हजार, १ ८० हजार, ७२० हजार, ३६० हजार दिन और ७२० हजार दिनों के संध्यांश सहित चतुर्युग में कुल ४३ लाख २० हजार दिन (सहस्रक) होते हैं।

३. ऋग्वेद १०.७२.२ में 'युग' और १.१३९:९ में 'युगान्तर' का विवरण है। विवरण में कहा गया है कि दध्यंच्, अंगिरस, प्रियमेध, कण्व, अत्रि आदि ऋषियों को आदि मनु के साथ उनके जन्म का भी स्मरण था।

४. (i) 'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्'—(१.१६४.३२)
(ii) सहस्राक्षरा परमे व्योमन्'—(१.१६४.४१)

५. ऋग्वेद में सात युग्मछन्दों के अलावा एकपदी, द्विपदी और प्रगाथ के तीन भेद—बार्हत, काकुभ और महाबार्हत छन्दों के रूप में ६२८ मंत्र भी पठित हैं।

६. ऋग्वेद के १० वें मण्डल का ५८वां सूक्त "मनो जगाम दूरकम्" और "क्षयाय-जीवसे" पदों से युक्त है, उसके प्रत्येक मंत्र में ये पद हैं। इसी प्रकार "इंद्रस्येन्दो परिस्रव" और "स जनास इन्द्रः" पद वाले मंत्रों का एक सूक्त है। पहले मण्डल में "वृजनं जीर दानुम्"; दूसरे में "विदथेषु सुवीराः"; तीसरे मण्डल में "सञ्जितं धनानाम्" और चौथे मण्डल में "रथ्यः सदासा" अन्त वाले मंत्रों के सूक्त हैं। ये ऋग्वेद की एकरूपता में प्रमाण हैं।

७. एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता में शांख्यायनी शाखा की प्रति है। तंजावरपुर के सरस्वती महाल ग्रन्थागार में शाकल-बाष्कल पाठ की संपूर्ण प्रति हैं। बनारस में स्कन्द स्वामी के भाष्य वाली प्रति, शाकल और आश्वलायन पाठ की है। इण्डिया ऑफिस लाइब्रेरी, लंदन में भी एक प्रति है। अधूरी प्रतियां अनेकों स्थानों पर हैं किन्तु जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं के वर्द्धमान ग्रन्थागार में अभी एक सम्पूर्ण प्रति क्रय की गई है जो सदाशिव उपाध्याय पुत्र सखोबा उपनाम पराडकर द्वारा

लिखित प्रति है।

८. चरणव्यूह और शाकल गृह्यसूत्र के अनुसार ऋग्वेद की छन्द पाद संख्या ४०१०० होती है। बाष्कल शाखा में १०५८१ मंत्र और शाकल शाखा में १०४१७ मंत्र संख्या बनाई गई है।

—वेवर की इण्डिस स्टडीज (३.२५६ और १०.१३३)

९. सायणाचार्य का भाष्य—माधवीय वेदार्थ प्रकाश १३वीं सदी विक्रमी के अन्तिम चरण में लिखा गया था।

खिल भाग बम्बई से क्रमशः सन् १८७७, १८९१ और शक सं० १८१०-१२ में प्रकाशित तीनों संस्करणों में भी प्रकाशित है। सातवलेकर के संस्करण में ३६ खिल हैं। मेक्समूलर ने ३२ और ऑफ्रेच्त (Aufrecht) ने २५ खिल प्रकाशित किये थे।

१०. हार्वर्ड यूनिवर्सिटी के विद्वान् मॉरिश ब्लूमफील्ड ने ऋग्वेद में पुनरुक्त पाद (चरण) संख्याओं का दोहन किया है और लगभग ८००० पाद (लाईन) पुनरूक्त बताये हैं किन्तु वस्तुतः उनके सिद्धांत अनुसार केवल २४०० पाद ही पुनरुक्त बनते हैं। दुर्भाग्य से ब्यूमफील्ड भारतीय परम्परा से पूर्णतः अनभिज्ञ हैं इसलिए उनका श्रम निरर्थक अधिक है।

११. मधुच्छन्दः प्रभृतयोऽगस्त्यन्ता आद्यमण्डले।
ये संति ऋषयस्ते वै सर्वे प्रोक्ताः शचर्चिनः॥
इनका निर्वचन इस प्रकार मिलता है—

ददर्शादौ मधुच्छन्दा द्व्यधिकं यद्ऋचां शतम्।
तत्साहचर्यादन्येपि विज्ञेयास्तु शतर्चिनः॥
अच्छत्राश्छत्रिणैकेन यथा ते छत्रियो भवन्॥

इसी प्रकार क्षुद्र सूक्त और महासूक्त की परिभाषा भी बहद्देवता में दी है—

दशर्चताया अधिकं महा सूक्तं विदुर्बुधाः। इति
एतेन एकर्चं प्रभृति दशर्चं पर्यन्तं क्षुद्र सूक्तम्। इति

१२. वास्तव में जिसका वाक्य वह ऋषि, जिसके लिए कहा गया वह देवता, जितने अक्षरों में कहा गया उसके अनुसार छन्द बताया गया है। आचार्य शौनक ने सर्वानुक्रमणी में कहा भी है—

अर्थेप्सव ऋषयो देवताश्छन्दोभि रूपाधावन्।

—कि अपने कथन का अर्थ स्पष्ट हो— इसके लिए ही ऋषि, देवता और छन्दों की स्तुति करते हैं।

यास्क ने 'निरुक्त' के सातवें अध्याय में भी कहा है—

अर्थकाम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन्,
स्तुतिम् प्रयुङ्क्ते स तत् देवत्यो मन्त्रः।

—और 'बृहद् देवता' में कह दिया गया है—

ऋषिसूक्तानि यावन्ति सूक्तान्येकस्य वै कृतिः।

—अर्थात् वेद वाक्य ऋषियों की कृति हैं और उसमें देवता और छन्दों का प्रयोग स्पष्टता के लिए किया गया है।

१३. वेदों के चार भाग—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद के अलावा शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, छन्द और ज्योतिष, छह अंग और धर्मशास्त्र, पुराण, मीमांसा और न्याय चार उपांग होते हैं। यह विभाग महर्षि वेद व्यास कृत हैं। महर्षि याज्ञवल्क्य ने इस चतुर्दश विद्या का उल्लेख किया है—

पुराण न्याय मीमांसा धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥

१४. वर्द्धमान ग्रन्थागार में सन् १९९१-९२ की खरीद में प्राप्त अष्टक संग्रह की आठ पोथियां। □□

वेद तरू

"सोऽयमेको यथा वेदस्तरूस्तेन पृथक्कृतः।
चातुर्धाथ ततो जातं वेद पादपकाननम्॥१५॥

विभेद प्रथमं विप्र! पैलो ऋग्वेद पादपम्।
इन्द्र प्रमितये प्रादाद्वाष्कलाय च संहिते॥१६॥

चतुर्धा स विभेदाथ बाष्कलोऽपि च संहिताम्।
बोध्यादिभ्यो ददौ ताचश्च शिष्येभ्यस्स महामुनिः॥१७॥

बोध्याग्निमाढकौ तद्वद्याज्ञवल्क्यपराशरौ।
प्रतिशाखास्तु शाखायास्तस्यास्ते जगृहुर्मुने॥१८॥

इन्द्र प्रमितिरेकां तु संहितां स्वसुतं ततः।
माण्डुकेयं महात्मानं मंत्रेयाध्यापयत्तदा॥१९॥

तस्य शिष्य प्रशिष्येभ्यः पुत्रशिष्यक्रमाद्ययौ।
वेदमित्रस्तु शाकल्यः संहितां तामधीतवान्॥२०॥
चकार संहिताः पंच शिष्येभ्यः प्रददौ च ताः।"

—विष्णुपुराण (अंश ३ अध्याय-४)

जिनागमों का संपादन

☐ जौहरीमल पारख

प्राचीन अर्द्धमागधी के नाम पर वैयाकरणों द्वारा आगम पाठों के "शुद्धिकरण" की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हुई है उसकी स्वागत-समीक्षा कई जैन पत्रिकाओं में छपी है। डॉ० के० ऋषभचन्द्रजी जैन अहमदाबाद वालों ने इस नई दिशा में मेहनत की है जिसके बारे में पंडितों के अभिप्रायों के प्रशंसात्मक अंशों का प्रचार भी हो रहा है जो आज की फैशन व परम्परता के अनुकूल ही है। नमूने के तौर पर आचाराङ्ग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्याय के प्रथम उद्देशक का नव संपादित पाठ भी प्रसारित किया गया है।

उस बारे में यह लेख है कि प्रारम्भ से आगम पाठ मौखिक रूप में ही गुरुशिष्य परम्परा से चलते रहें। चूंकि आगम पाठों की शुद्धता पूर्वाचार्यों की दृष्टि में अत्यन्त महत्त्व रखती थी अतः समय-समय पर वाचनायें व संगतिये होती थीं जिनमें संख्याबद्ध बहुश्रुत आगमधारक श्रमण मिलकर अपनी-अपनी याददास्त को ताजा व सही करते रहते थे। किन्तु बाद में स्मरण शक्ति के ह्रास व स्वाध्याय शिक्षणादि अन्य कारणों से आगमों को लिखने व नोट करने की छुटमुट प्रथा भी चल पड़ी, यद्यपि मुख्यतः गुरुमुख से प्राप्त पाठ का ही प्रचलन था और वही शुद्धतर माना जाता था। कालान्तर में आगम धरों की निरंतर घटती संख्या को देखते हुए जब आगम-विच्छेद जैसा ही खतरा दिखाई देने लगा तो पाठ सुरक्षा के लिए आज से लगभग १६०० वर्ष पूर्व गुजरात (सौराष्ट्र) के वल्लभीपुर नामक शहर में देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण (अपरनाम देववाचक) की अध्यक्षता में आगम वाचना हुई। उस अवसर पर आगमधारक आचार्यों/उपाध्यायों को गुरु परंपरा से प्राप्त पाठ व व्यक्तिगत छुटमुट प्राप्त पोथियों के व्यापक आधार पर समस्त उपलब्ध आगमों को लेखबद्ध किया गया और वही पाठ आज समूचे श्वेताम्बर जैन समाज में मान्य है।

आजीविका चलाने वाले लहिये और श्रमण-श्रमणियां व प्रबुद्ध श्रावक-श्राविकायें भी इन उपरोक्त लिखित आगमों की प्रतिलिपियां करते रहते थे। पहले भोजपत्र व ताड़पत्र पर और बाद में कागज का चलन हो जाने पर कागज पर आगम लिखे जाते रहे। ऐसी प्रतियां सैकड़ों हजारों की संख्या में, देश-विदेश के भण्डारों व यत्रतत्र, अन्यत्र भी मिलती हैं जिनमें कई तो हजार-आठ सौ वर्ष से भी अधिक पुरानी हैं। वर्तमान में आगमधर गुरु से परम्परा में प्राप्त पाठ का प्रायः अभाव हो जाने से, आगम के असली पाठ निर्धारण में ये प्राचीन हस्तलिखित प्रतियां (जिन्हें आदर्श की संज्ञा दी जाती

है) ही हमारा एक मात्र आधार रह गई हैं और इसीलिये आगम-संपादन की यह मान्य प्रथा है कि बिना आदर्श में उपलब्ध हुए कोई भी पाठ स्वीकार न किया जाय।

इस दृष्टि से डॉ० चन्द्रा द्वारा संपादित प्रथम उद्देशक का विश्लेषण करते हैं तो संलग्न सूची के अनुसार महावीर जैन विद्यालय संस्करण (जिसे उन्होंने आदर्श ग्रन्थ/प्रति के रूप में प्रयुक्त किया है) के पाठ को ९४ जगहों पर शब्दों में भेद किया है। ५ शब्द भेद छठे सूत्र में 'यश्रुति, तश्रुति, उदवृतस्वर' आधार पर और जोड़े जा सकते हैं जैसा कि उन्होंने दूसरे सूत्र में (सूची क्रम संख्या ४८-९, ५२-४) में किये हैं (संभवतः छठे सूत्र में ये भेद करना चाहते हुए भी नजर चूक से वे भूल गये लगते हैं)। इस प्रकार पाठ भेद वाले शब्दों की संख्या ९९ पर पहुंच जाएगी और १७ शब्दों में (सूची क्रम संख्या १,३,९,३१,३२,३९,४०,५०,५१,५५,५९,६५,६७,७६,८३,८७,९०) तो दो-दो पाठ भेद हैं अतः कुल पाठ भेद ११६ गिनाये जा सकते हैं। लेकिन इतने सारे पाठ भेदों में केवल ७ भेद ही (सूची क्रम संख्या ९,४८,४९,५२,५३,५४ व ५७) आदर्श सम्मत हैं। बाकी के सब भेद आदर्शों पर आधारित न होने के कारण अमान्य ठहरते हैं। डॉ० साहब कष्ट उठाकर भण्डारों में जाते, प्राचीन प्रतियों का अध्ययन करते और उसी सूत्र में उसी स्थल पर इनके द्वारा सुझाया गया पाठ उपलब्ध है ऐसा बताते तब तो कुछ आधार बनता, वरना इनका पाठ गले नहीं उतरेगा।

असल आगम पाठ क्या है? बस इसका ही निर्धारण करें। आपकी राय में क्या होना चाहिए या हो सकता है यह अनधिकार चेष्टा है। वास्तव में पाश्चात्य जगत् से आई 'संपादन' नाम से पहिचाने जाने वाली प्रक्रिया आगमों पर लागू ही नहीं होती है क्योंकि न तो हम सर्वज्ञ हैं न गणधर और न आगमधर स्थविर हैं (निर्युक्ति व चूर्णिकार ने तो थेर शब्द का अर्थ भी गणधर ही किया है—देखें द्वितीय स्कन्ध का प्रारंभ) अन्य आगमों में या स्वयं आचाराङ्ग में अन्यत्र अमुक पाठ मिलता है इसलिये यहां भी वैसा ही पाठ होना चाहिए, इस तर्क में कोई बल नहीं है—यह दुतरफा है। इसके अतिरिक्त यह कोई नियम नहीं है कि एक व्यक्ति सदैव एक सरीखा ही बोलता है। श्रोताओं की भिन्नता, स्थल की भिन्नता आदि कारणवश अथवा बिना कारण भी, हम गद्य पद्य छंद मात्रा अलंकार, कभी लोक तो कभी लोग, कभी पानी तो कभी जल, कभी प्रज्ञापना तो कभी पण्णवण्णा, कभी किंवा तो कभी अथवा, कभी कागज तो कभी कागद, कभी भगवती तो कभी व्याख्याप्रज्ञप्ति, कभी प्रत्याख्यान तो कभी पच्चक्खाण, कभी छापा तो कभी अखबार, कभी सुसरा तो कभी हुसरा, कभी मैं तो कभी हम, कभी प्रतिक्रमण तो कभी पडिक्कमणा, कभी रजिस्ट्री तो कभी पंजीकरण बोलते हैं। अर्थात् हमारी बोली में और विशेषतः सतत बिहारी साधु वर्ग में श्रुतिवैविध्य, शब्दवैविध्य (पर्यायवाची) और भाषा वैविध्य (अन्य भाषा के शब्द) होता है।

डॉ० चन्द्रा ने ३८ भेद (यकात/उदवृतस्वर करके) ७ भेद (ग का क करके) ३ भेद (ह का ध करके) २ भेद (ड्ढ का द्ध करके) १ भेद (य का च करके) और १ भेद (य का ज करके) कुल ५२ भेद श्रुति आधारित किए हैं जिनमें केवल ६ आदर्श सम्मत

हैं (जो उपरोक्त ७ की संख्या में समाविष्ट कर लिए गए हैं)। हमारा यह कहना नहीं है कि आगमों में 'त' श्रुति नहीं है; पर आदर्शों में जिस स्थल पर वह मिलती है वहीं ली जा सकती हैं—सर्वत्र नहीं। महावीर जैन विद्यालय के संस्करण में आगमोदय समिति संस्करण की अपेक्षा 'त' श्रुति की भरमार है परन्तु एक भी जगह बिना आदर्श का आधार लिए नहीं है। विडम्बना यह है कि डॉ० चन्द्रा ने अपने सारे निष्कर्ष बिना असल प्रतियों के देखे केवल छपी पुस्तकों—द्वितीय स्तर की साक्ष्य (Secondary evidence) के आधार पर निकाले हैं जिन्हें प्रायः साधारण अदालत भी नहीं मानती है। यदि वे गहराई में जाते तो अपना मामला मजबूत कर सके होते।

अर्द्धमागधी भाषा के प्राचीन रूप का तर्क भी शक्तिहीन है। भगवान् ने तीर्थ की प्ररूपणा की थी, न कि अर्द्धमागधी भाषा की। वह भाषा तो उनसे पूर्व भी प्रचलित थी—उनसे भी बहुत पुरानी है। भाषावली की कठोर सीमा रेखायें नहीं खेंची जा सकती है तथा एक प्रदेश व एक युग में सभी व्यक्ति एक सी ही भाषा वापरते हैं यह सिद्धान्त भी नहीं बनता है। भिन्न-भिन्न जातियों की, शहरों व गांवों की, अनपढ़ व पण्डितों की बोलियों में अन्तर होता है—पारिभाषिक शब्दावली भी अपनी-अपनी अलग होती है। आज २१वीं सदी में भी मारवाड़ी लोगों की बहियों व आपसी पत्र-व्यवहार की भाषा व शैली १८वीं, १९वीं शताब्दी से मेल खाती है और इसी कारण जैन समाज यह कदापि स्वीकार करने वाला नहीं है कि बौद्ध ग्रन्थों या अशोक के शिलालेखों में प्रयुक्त भाषा हमारे आदर्शों की अपेक्षा अधिक माननीय है एवं जैनागमों में अपना ली जानी चाहिए। हां आगमों का अर्थ समझने में भले ही उनकी सहायता ली जाए किन्तु पण्डितों से हमेशा हमारा यही आग्रह रहेगा कि कृपया बिना भेलसेल का वही पाठ हमें प्रदान करें जो तीर्थंकरों ने अर्थ रूप से प्ररूपित और गणधरों ने सूत्ररूप से संकलित किया था। हमारे लिये वही सर्वथा शुद्ध है। सर्वज्ञों को जिस अक्षर शब्द पद वाक्य या भाषा का प्रयोग अभीष्ट था वह सूचित कर गये— अब उसमें कोई असर्वज्ञ फेरबदल नहीं कर सकता। उसकी अपेक्षा अक्षर व्यंजन मात्रा भी गलत, कम या अधिक बोलने पर ज्ञानाचार को अतिचार लगता है—प्रतिक्रमण में प्रायश्चित्त करना पड़ता है।

रही बात व्याकरण की, सो व्याकरण गणित की तरह एक ऋत विज्ञान (Exact Science) तो है नहीं कि जहां दो व दो चार ही होते हों। व्याकरण के प्रायः सभी नियम अपने-अपने अनुमान व अधूरे पोथी ज्ञान के बल पर बनाए गए हैं, उन्हें पूर्णता की संज्ञा नहीं दी जा सकती। वैयाकरण, निष्णान्त (experts) होते हैं और सब या अधिक की बात छोड़िए, दो निष्णान्त भी एकमत नहीं होते हैं। और तो और, वर्षों की बहस के बाद भी जैनों के मूल मन्त्र नवकार में "न" शुद्ध है या "ण" शुद्ध है इसका निर्णय वैयाकरण नहीं कर पाए हैं जबकि डॉ० चन्दा ने प्रस्तुत उद्देशक में ३५ पाठ भेद केवल "ण" को न में बदल करके किए हैं जिनमें एक भी आदर्श सम्मत नहीं है।

साथ में हमें यह नहीं भूलना है कि व्याकरण तो मंच पर बहुत बाद में आती

है। व्याकरण के नियम रचित साहित्य पर आधारित होते हैं—शास्त्रों व अन्य ग्रन्थों में हुए प्रयोगों के अनुसार पण्डितों द्वारा पीछे से घड़े जाते हैं। ऐसी परिस्थिति में यह कहना कि आगमकारों ने व्याकरण की अवहेलना की है किंवा आगम-रचना व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध हुई है, उतना ही हास्यास्पद है जितना कि यह कहना कि हमारे दादों, पड़दादों ने हमारे पोतों पड़पोतों का अनुकरण नहीं किया।

थोड़ी देर के लिए यह मान भी लें कि सभी व्याकरण डॉ० चन्द्रा से एकमत हैं और यह भी मान लें कि भगवान् महावीर की तीर्थ-प्ररूपणा से पूर्व डॉ० चन्द्रा की यह नियमावली दृढ़तापूर्वक प्रभाव में थी तो भी हमारा कथन है कि आगम इतनी उच्चकोटि की सत्ता व अधिकारिक स्तर लिए हुए हैं कि बेचारी व्याकरण की वहां तक पहुंच ही नहीं है। सर्वज्ञों के वचन व्याकरण के अधिकार क्षेत्र से परे व बहुत-बहुत ऊंचे हैं। पाणिनी का व्याकरण वेदों पर लागू नहीं होता अर्थात् आर्ष प्रयोग के अपवाद सर्व मान्य हैं। स्टूडियो में निदेशक जैसे एक्टर (अभिनेता) को अथवा छड़ी-धारी अध्यापक जैसे छात्र को कहता है कि 'तू ऐसा बोल' वैसा मुंह में भाषा ठूंसने का अधिकार वैयाकरण को नहीं है कि तीर्थंकर या गणधरों को कहें कि आपको इस प्रकार बोलना चाहिए था! इसे आप वैयाकरणों का दुर्भाग्य मानें या जनता का सौभाग्य कि ज्ञान प्राप्ति के बाद भगवान् ने तीर्थ की प्ररूपणा पण्डितों की भाषा में नहीं की—वे लोकभाषा में बोले ताकि आम प्रजा आप्त वचनों को सरलतापूर्वक सही रूप में समझ सके। प्रस्तुत उद्देशक में ७ भेद विभक्ति परिवर्तन करके, २ भेद अनुस्वार का लोप करके और १ भेद ए का लोप करके व्याकरण की दृष्टि से १० पाठ भेद किए गए हैं। जिनमें केवल एक भेद ही आदर्श सम्मत है जो ऊपर गिनाया जा चुका है।

अतएव व्याकरण के पण्डितों से हमारा अनुरोध है कि ज्ञानी (जो वैयाकरण नहीं होता है) व पण्डित के बीच इस भारी फर्क को समझें और अपने व्याकरण ज्ञान को सामान्य शास्त्रों, ग्रन्थों व अन्य साहित्य तक ही सीमित रखें—आगमों पर थोपने की कोशिश न करें। तिस पर भी उन्हें आप्त वचनों में भाषाई या व्याकरणीय दोष असहनीय रूप से खटकते हों तो "समरथ को नहीं दोष गुंसाई" इस चौपइ में संतोष मना लें। प्रोफेसर घाटगे ने अपने अभिप्राय में ठीक ही लिखा है कि ऐसे प्रयासों का उपयोग शब्दकोश बनाने में लिया जाएगा कि उपलब्ध पाठों में प्राचीनतम पाठ कौनसा है। मुनि श्री जम्बूविजयजी ने भी अपने अभिप्राय में लिखा है—"में उपर-उपर थी तमारुं पुस्तक जोयुं छै। अनुनासिक-परसवर्ण वाला पाठो प्रायः MSS मां मलता ज नथी एटेल ब् ड् वगेरे वाला पाठो माराथी अपायनहि, अमारो एक सिद्धांत छे के MSS मां होय तेज पाठ आपवो।" लेखक ने भी जैसलमेर, पूना, काठमाण्डू, जोधपुर, बाड़मेर, जयपुर आदि भंडारों की हजारों प्राचीन प्रतियों का अवलोकन, सूचीकरण व प्रतिलिपिकरण किया है पर प्राकृत ग्रन्थों में परसवर्ण अनुनासिक लिखने की पद्धति का अभाव ही पाया है—अनुस्वार से ही काम चलाया गया है। लेकिन डॉ० चन्द्रा ने इस पद्धति को अपना कर प्रस्तुत उद्देशक में १६ स्थानों पर पाठभेद खड़े किए हैं जिनमें से एक भी आदर्श सम्मत नहीं हैं।

यहां पर यह भी उल्लेखनीय है कि कुल ११६ पाठ भेदों में केवल १ 'आउसंतेण' को छोड़कर शेष ११५ पाठ भेद ऐसे हैं कि जिनसे अर्थ में कोई फर्क नहीं पड़ता। और आउसंतेण (कहीं अनुस्वार सहित है कहीं रहित) इस पाठ को सबने विकल्प में स्वीकार किया ही है और चूर्णिकार, वृत्तिकार आदि ने इसकी व्याख्या की ही है। तो फिर इस पाण्डित्य प्रदर्शन का लाभ क्या ? पहाड़ खोजने पर चूहा भी नहीं निकला ऐसा कहा जा सकता है।

डॉ० के इस प्रयत्न को, जैनागमों के संशोधन व संपादन प्रक्रिया को नयी दिशा का बोध देने वाला बताया गया है। नवीनता का शौक सबको—बूढ़ों को भी होता है, लेकिन कृपा कर आगमों को इस मानसिक चंचलता का शिकार न होने दें। आगमों का संशोधन या संपादन के बहाने पुनर्लेखन जैसी वस्तु हर प्रकार से अक्षम्य है—मनमानी का पथ प्रशस्त करने वाली सिद्ध हो सकती है। हमारे आगम पुराने हैं और उनके लिए पुरानी दृष्टि ही अधिक उपयुक्त है क्योंकि वह आगम युग के समीपस्थ है। लाख-लाख धर्मानुयायी इन पाठों को पवित्र मंत्र समझते हैं, श्रद्धापूर्वक कंठस्थ व नित्य पारायण करते हैं। भाषा विज्ञान के चौखटे में फिट करने के लिये प्राचीन आदर्शों में उपलब्ध एवं सदियों से प्रचलित पाठों में कांट-छांट करने से सामान्यजन की आस्था हिलती है, उनमें बुद्धिभेद पनपता है और उनकी भावनाओं को ठेस भी पहुंचती है। अतः आत्मनिरीक्षण करें कि जो कार्य आप श्रुत सेवा व निर्जरा का कारण समझकर कर रहे हैं वह कहीं आश्रव व कर्मों का बन्धन तो नहीं है। याद रखें कि गलत ग्रंथ ग्रन्थकार की अपकीर्ति को चिरस्थायी कर देता है। और अंत में होगा यह कि गुड़गांव व राजकोट (अहमदाबाद) से छपे आगमों की तरह आपका संस्करण भी बहिष्कृत कर दिया जाएगा। हमारा मन्तव्य यह नहीं है कि प्रतिलिपि करने में भूलचूक अस्वाभाविक है, लेकिन आदर्शों का मिलान कर सर्वसम्मति से उनका परिष्करण बिलकुल संभव है— आदर्शों से हटने की कतई आवश्यकता नहीं है। भूलों का परिमार्जन तो हिसाब, कानून आदि में सर्वत्र होता ही है क्योंकि वस्तुतः भूल अस्तित्वहीन है, नहीं (Nullity) गिनी जाती है। किन्तु जहां, भूल हुई हो ऐसा कहा नहीं जा सकता, वहां भूल सुधार की ओट लेकर आगमपाठों में घुसपैस करना अनुचित है। आदर्शविहीन इस भाषाविज्ञान की दृष्टि से आगम-संशोधन का विरोध होना चाहिए। □

प्रस्तुत आलेख में 'मूल' की सुरक्षा और तर्क संगत परंपरा-निर्वहन की ओर पाठकों और विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया गया है। आगमों से संबंधित प्रश्न होने से इसे मनोयोग पूर्वक देखा-समझा जाना चाहिए। तथा-कथित "भाषाविज्ञान" की वर्तमान मुहिम हमारी दृष्टि में भी भ्रामक अधिक हो सकती है।—प.सो.

संलग्न सूची

क्रमांक	सूत्र संदर्भ	महावीर जैन विद्या० पाठ	डॉ० चन्द्रा का पाठ	अन्तर
१.	शीर्षक	आयारंग	आचारङ्ग	परसवर्ण अनुनासिक, यकाच २
२.	,,	पढ़मो	पढमंसि	विभक्ति रूप
३.	,,	सुयक्खंधो	सुतक्खंधंसि	यकात + विभक्ति रूप २
४.	,,	अज्झयणं	अज्झयनं	णकान
५.	,,	सत्थपरिण्णा	सत्थपरिन्ना	,,
६.	,,	पढमो	पढमे	विभक्तिरूप
७.	,,	उद्देसओ	उद्देसगे	,, ओकागे
८.	१	सुयं	सुत्तं	यकात
९.	,,	आउसं ! तेणं	आउसन्तेण	पाठांतर, परसवर्ण अ०, अनुस्वार लोप २
१०.	,,	भगवया	भगवता	यकात
११.	,,	एवमक्खायं	एवमक्खातं	,,
१२.	,,	इहमेगेसिं	इहमेकेसिं	गकाक
१३.	,,	णो	नो	णकान
१४.	,,	सण्णा	सन्ना	,,
१५.	,,	जहा	जधा	हकाध
१६.	,,	दाहिणाओ	दक्खिणातो	य/त/उदवृतस्वर रूपान्तर
१७.	,,	दिसाओ	दिसातो	,, ,,
१८.	,,	उड्ढातो	उद्धातो	ड्ढ का द्ध
१९.	,,	अणुदिसातो	अनुदिसातो	णकान
२०.	,,	एवमेगेसिं	एवमेकेसिं	गकाक
२१.	,,	णो	नो	णकान
२२.	,,	णातं	नातं	,,
२३.	,,	आया	आता	यकात
२४.	,,	उववाइए	उववातिए	य/त/उदवृत०
२५.	,,	णत्थि	नत्थि	णकान
२६.	,,	आया	आता	यकात
२७.	,,	उववाइए	उववातिए	य/त/उदवृत०
२८.	,,	इओ	इवो	,,
२९.	२	पुण	पुन	णकान
३०.	,,	जाणेज्जा	जानेज्जा	,,
३१.	,,	सहसम्मुइयाए	सहसम्मुतिया	य/त/उदवृत० एकालोप २

३२.	,,	परवागरणेणं	परवागरणेन	णकान, अनुस्वार लोप २
३३.	,,	अण्णेसिं	अन्नेसिं	णकान
३४.	,,	अंतिए	अन्तिए	परसवर्ण अनु०
३५.	,,	जहा	जधा	हकाध
३६.	,,	दक्खिणाओ	दक्खिणातो	य/त/उदवृतस्वर
३७.	,,	पच्चत्थिमाओ	पच्चत्थिमातो	,, ,,
३८.	,,	उत्तराओ	उत्तरातो	,, ,,
३९.	,,	उड्ढाओ	उद्धातो (?)	ड्ढकाद्ध + य/त/उदवृ० *२
४०.	,,	अहाओ	अछे	हकाध + विभक्ति रूप ३
४१.	,,	अन्तरीओ	अन्तरीतो	य/त/उद वृ०
४२.	,,	दिसाओ	दिसातो	य/त/उद वृ०
४३.	,,	अणुदिसाओ	अनुदिसातो	,, णकान (?)२
४४.	,,	एवमेगेसिं	एवमेकेसिं	गकाक
४५.	,,	णातं	नातं	णकान
४६.	,,	आया	आता	य/त/उदवृतस्वर
४७.	,,	उववाइए	उववातिए	,,
४८.	,,	इमाओ	इमातो	,,
४९.	,,	दिसाओ	दिसातो	,,
५०.	,,	अणुदिसाओ	अनुदिसातो	,, , णकान २
४०.	,,	अहाओ	अधे	हकाध + विभक्ति रूप २
४१.	,,	दिसाओ	दिसातो	य/त/उदवृ०
५१.	२	अणुसंचरति	अनुसञ्चरति	णकान; परसवर्ण अ० २
५२.	,,	सव्वाओ	सव्वातो	य/त/उदवृतस्वर
५३.	,,	दिसाओ	दिसातो	,,
५४.	,,	सव्वाओ	सव्वातो	,,
५५.	,,	अणुदिसाओ	अनुदिसातो	,, , णकान २
५६.	३	आयावादी	आतावादी	यकात
५७.	,,	लोगावादी	लोकावादी	गकाक
५८.	४	समणुण्णे	समनुन्ने	णकान
५९.	५	एयावंति	एतावन्ति	यकात, परसवर्ण अ० २
६०.	,,	सव्वावंति	सव्वावन्ति	परसवर्ण अ०
६१.	,,	लोगंसि	लोकंसि	गकाक
६२.	,,	कम्मसमारंभा	कम्मसमारम्भा	परसवर्ण अ०
६३.	,,	परिजाणि-तव्वा	परिजानितव्वा	णकान

*यह शब्द लगता है भूल से डॉ० के पाठ में छूट गया है ।

६४.	,,	भवंति	भवन्ति	परसवर्ण अ०	
६५.	६	अपरिण्णाय-कम्मे	अपरिन्नातकम्मे	णकान; य/त/उद०	२
६६.	,,	अणुदिसाओ	अनुदिसाओ	,,	
६७.	,,	अणुसंचरति	अनुसञ्चरति	,, ; परसवर्ण अ०	२
६८.	,,	अणुदिसाओ	अनुदिसाओ	,,	
६९.	,,	अणेगरूवाओ	अनेगरूवाओ	,,	
७०.	,,	जोणीओ	जोनीओ	,,	
७१.	,,	संधेति	सन्धेति	परसवर्ण अ०	
७२.	७	परिण्णा	परिन्ना	णकान	
७३.	,,	जीवियस्स	जीवितस्स	यकात	
७४.	,,	परिवंदण	परिवन्दन	परसवर्ण अ०	
७५.	,,	माणण	मानन	णकान	
७६.	,,	पूयणाए	पूजनाए	,,+यकाज	२
७७.	,,	जाती	जाति	दीर्घ ई की जगह ह्रस्व इ	
७८.	,,	मोयणाए	मोयनाए	णकान	
७९.	८	एतावंति	एतावन्ति	परसवर्ण अ०	
८०.	,,	सव्वावंति	सव्वावन्ति	,,	
८१.	,,	लोगंसि	लोकंसि	गकाक	
८२.	,,	कम्मसमारंभा	कम्मसमारम्भा	परसवर्ण अ०	
८३.	,,	परिजाणियव्वा	परिजानितव्वा	णकान, यकात	२
८४.	,,	भवंति	भवन्ति	परसवर्ण अ०	
८५.	९	लोगंसि	लोकंसि	गकाक	
८६.	,,	कम्मसमारंभा	कम्मसमारम्भा	परसवर्ण अ०	
८७.	,,	परिण्णाया	परिन्नाता	णकान, यकात	
८८.	,,	भवंति	भवन्ति	परसवर्ण अ०	
८९.	,,	मुणी	मुनी	णकान	
९०.	,,	परिण्णायकम्मे	परिन्नातकम्मे	,, , यकात	२
९१.	अंत.	सत्थपरिण्णाए	सत्थपरिन्नाए	,,	
९२.	,,	पढमो	पढमे	विभक्ति रूप	
९३.	,,	उद्देसओ	उद्देसगे	,,=ओकागे	
९४.	,,	समत्तो	समत्ते		
९५.	६	इमाओ	इमातो	य/त/उदवृतस्वर	
९६.	,,	दिसाओ	दिसातो	,,	
९७.	,,	सव्वाओ	सव्वातो	,,	
९८.	,,	दिसाओ	दिसातो	,,	
९९.	,,	सव्वातो	सव्वातो	,,	

रत्नपाल चरित : एक साहित्यिक अनुशीलन

☐ डॉ० हरिशंकर पाण्डेय

आत्मा की महनीयता जब रसात्मक शब्दों में अभिव्यक्त होती है उसे काव्य कहते हैं, जिसका हरतंत्र आनन्दात्मक एवं श्रेयस्कर होता है। जहां उपादेय ही शेष रहता है। इसीलिए सुप्रसिद्ध साहित्याचार्य मम्मट ने काव्य को केवलानंदमयी बताकर विधाता की सृष्टि से भी श्रेष्ठ होने की उद्घोषणा की है।[1]

विधाता-सृष्टि-विलक्षण-लक्षण-सम्पन्न काव्य की अनेक विधाओं में चरितकाव्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है, जिसमें किसी उदात्त पात्र के व्याज से नीति, सदाचार, धर्म एवं दर्शन के तत्त्वों का प्रतिपादन किया जाता है।

चरितकाव्य की महनीय परम्परा में 'रत्नपालचरित' की संगणना की जा सकती है, जो संस्कृत-भाषा में निबंधित एवं अभी तक अप्रकाशित है।

इस ग्रन्थ का कवि वैसा महान् व्यक्तित्व-सम्पन्न पुरुष है, जो प्रतिभा और प्रज्ञा का अशोष्य आकर है। आचार्य श्यामदेव एवं मंगल कथित—"काव्यकर्मणि कवेः समाधिः परं व्याप्रियते इति श्यामदेवः, अभ्यास इति मङ्गलः[2] एवं राजशेखर प्ररूपित समाधिरान्तरप्रयत्नो बाह्यस्त्वभ्यासः"[3] समाधि और शास्त्राभ्यास रूप काव्यकारणभूत दोनों महायात्राओं को जिसने पूर्ण कर लिया है, जिसे संसार में युवाचार्य महाप्रज्ञ के नाम से जानते हैं और जो तेरापंथ धर्मसंघ के समदर्शी आचार्य श्री तुलसी का उत्तराधिकारी है।

काव्यालोचना में वस्तु, नेता और रस आदि तीन तत्त्व विवेच्य एवं समीक्ष्य होते हैं। आधुनिक आलोचना में इन तत्त्वों में संवर्द्धन हुआ है। प्रस्तुत नबन्ध में वस्तु, संवाद, पात्र-चित्रण, रस, भाषा, शैली, छन्द, अलंकार, सूक्ति और उद्देश्यादि तत्त्वों पर प्रकाश डालने का विनम्र प्रयास किया जा रहा है।

वस्तु-संविधान

प्रस्तुत चरित्र-काव्य में दक्षिण के सुसमृद्ध नगर शक्रपुर के नीतिज्ञनृपति चन्द्रकीर्ति एवं शीलवन्ती रानी चन्द्रकान्ता के पुत्र रत्नपाल के चरित्र का पांच सर्गों (२२४ श्लोक) में काव्यात्मक वर्णन अनुस्यूत है। काव्यारंभ के पूर्व चार श्लोकों में मंगलाचरण निबद्ध है।

कथा का आरम्भ सूर्योदय के मनोरम वर्णन एवं "सन्तो निसर्गात उपकारिणो यत्"[4] (सन्त स्वभाव से उपकारी होते हैं।) रूप सन्त-स्वभाव निरूपक साधु-सूक्ति से होता है। **अन्यायवत्त प्रतिघाततो न विवस्वतो न्यूबपदं नयामि।**[5] **एवं भास्वानस्यं व्योम्नि**

करोति नित्यं परिक्रमां कारणमत्र किं भो:[1] रूप स्पर्धा एवं जिज्ञासा के साथ राजा रत्नपाल राज्यसभा में उपस्थित होता है। सभी ने अपने ढंग से उत्तर दिया। सभासदों ने कहा—उल्लू की अप्रसन्नता का कारणजानने के लिए (१.७) कमल में बंद भ्रमरों की मुक्ति के लिए (१.८) अंधकार-विनाशार्थ (१.९) और देशाटन के विना प्रसिद्धि नहीं होती है (१.१०), इसलिए सूर्य परिक्रमा करता है। राजा अन्तिम सभासद के तर्क से प्रभावित होकर देशाटन के लिए निकल जाता है। जंगल में घूमते हुए प्रसन्न होता है। अचानक एक स्वर्गीया अगोचर-युवति उसके गले में माला डालकर स्तुति करती है। राजा आश्चर्यित होता है। उसके बाद वृक्ष तडागादि प्राकृतिक— मानवों से राजा का वार्तालाप होता है। सरोवर की प्रसन्नता एवं 'देवासहायाः कृतिनां भवन्ति' (भाग्यशाली व्यक्ति को देव भी सहायक होते हैं) सूक्ति के साथ सर्ग समाप्त हो जाता है।

सरोवर में स्नान-प्रसंग से द्वितीय सर्ग प्रारंभ होता है। राजा सरोवर में स्नान कर जब बाहर आता है तो एक युवति की आवाज सुनायी पड़ती है, जो माला डालने वाली युवति की सखी थी। जैसे ही राजा अपने प्रति प्रेम के कारण को जानने की जिज्ञासा करता है तभी वह माला डालने वाली युवति हंसती हुई आकर अपना परिचय देती है। परिचय क्रम में बताती है कि मेरे मामा ने निर्दयतापूर्वक मेरे राज्य को अपहृत कर एवं पिता को पकड़कर बधिकों को मारने की आज्ञा दे दी थी, लेकिन बधिकों ने दयावश मेरे पिता को छोड़ दिया। छूटकर पिता वैसे ही भाग गए जैसे कर्म-मुक्त आत्मा लोकान्तर को चली जाती है। वह समय मेरे पिता के लिए दुर्भर हो गया। बाद में विश्वासपात्र गुप्तचरों की सहायता से मेरी मां काफी धन लेकर पिता के पास पहुंच गयीं, जैसे शांति को साथ लेकर ज्योत्स्ना चन्द्रमा के पास पहुंच जाती है। ज्योतिषियों से सुना कि तुम मेरे भाग्य के स्वामी होवोगे, इसीलिए पहले तुमने बिजली की तरह मेरी सखी को देखा और अब मैं मेघमाला की तरह दर्शनीय हूं।

रत्नपाल ने अपने आत्म-विद्याबल से उसके राज्य को जीतकर उसको वापस कर दिया। तदनन्तर उसे जाति-स्मृति ज्ञान की प्राप्ति होती है। श्रीपत्तन के राजा के द्वारा उसके वृतान्त पूछे जाने पर वह एक गरीब-ब्राह्मण की कथा कहता है जो वसन्तपुर का निवासी था। एक मुनि द्वारा प्रदत्त महामंत्र के जाप के प्रभाव से वही दरिद्र ब्राह्मण रत्नपाल के रूप में उत्पन्न हुआ।

राजा और रात्री के संवाद से तृतीय सर्ग का प्रारम्भ होता है। रात्री अंधकार के कारण संसार में कायरता एवं पापादि को संवर्द्धित करती है—ऐसा राजा के द्वारा कथन करने पर वह अपने शुद्ध स्वरूप की चर्चा करती है। मैं परोपकार के लिए ही नियत समय पर आती हूं और जाती हूं। रात्री के अन्धकार को लोग दीप जलाकर दूर करना चाहते हैं परन्तु मन के अन्धकार को क्यों नहीं दूर करते हैं। उसके बाद रात्री के कथन से प्रसन्न होकर राजा अनिश्चित पथ से आगे बढ़ जाता है।

अपने पास राजा को न पाकर राजकुमारी और रत्नपाल के बाहर गए हुए बहुत

समय हो जाने पर उसके राज्य का मंत्री राजा को खोजने के लिए निकलते हैं। घूणाक्षर-न्याय से मंत्री और विरहिणी कुमारी का मिलन हो जाता है। तदनन्तर राजकुमारी का निर्देश पाकर मंत्री रत्नपाल का जीवनवृत्त बताता है। वह दक्षिण के समृद्ध नगर शक्रपुर के राजा चन्द्रकीर्ति का पुत्र है। उसकी माता का नाम चन्द्रकान्ता है। कुमार रत्नपाल का विवाहादि गार्हस्थिक संस्कारों के बाद राज्य पर अभिषिक्त कर चन्द्रकीर्ति पत्नी सहित अरण्यवास करते हैं, रत्नपाल जैसे प्रजावत्सल नरेश को पाकर वसुमती प्रसन्न होती है। सात श्लोकों में राजा और पृथ्वी का संवाद निबद्ध है, जिसमें पृथ्वी की महनीयता एवं श्रेष्ठ राजा के गुणों का निरूपण किया गया है। तदनन्तर मंत्री अपनी अभीप्सा प्रकट करता है कि जैसे कमलवैभव में सूर्य को वापस लाने का उत्साह होता है उसी प्रकार राजा को वापस ले जाने के लिए मैं उत्सुक हूं।

चतुर्थ सर्ग विरहकाव्य की दृष्टि से उत्कृष्ट है। वृत्तान्त सुनकर राजकुमारी राजा को खोजने के लिए अरण्य में निकल जाती है। अरण्य से उसके बारे में पूछती है। पुनः अरण्य के प्रत्येक वृक्ष से अपने प्रियतम-अन्वेषण के लिए सहायता मांगती है। इस प्रसंग में विरह की उत्कटता एवं उसके विभिन्न दशाओं का वर्णन रसमयी प्राञ्जल भाषा में किया गया है। रात्री का वर्णन, भूमिशयन, स्वप्नदर्शन, नींद का उचटना आदि विरह-अवस्थाएं वर्णित हैं। राजकुमारी को अपने भ्रम का ज्ञान होता है। संसार की विरसता एवं मोहरूपता को देखकर उसका मन विरक्त हो जाता है। रास्ते में एक मुनि का दर्शन होता है जो एक मंत्री के द्वारा सेवित हो रहा था। मुनि धर्मलाभ देता है तथा अपनी राम-कहानी सुनाता है।

पांचवां सर्ग मुनि और मंत्री के वार्तालाप से प्रारंभ होता है। इसमें राजनीति के अनेक गुह्य रहस्यों का काव्य-भाषा में निरूपण हुआ है। सचिव भी दीक्षित होना चाहता है। मुनि (जो रत्नपाल ही था) के प्रभाव से राज्य की समृद्धि का वर्णन सचिव करता है। रत्नवती भी दीक्षित होकर साध्वी बन जाती है। कल तक जो कुमारी विरह-व्यथा के कारण प्रकृति के प्रत्येक कण में रत्नपाल को देखती थी, आज वह सर्वत्र अगाध-शान्तरसाम्बुधि का अवलोकन करने लगी। सृष्टि के हर पदार्थ में उसे शान्त-निष्यन्दिनी का अमर स्रोत दिखाई पड़ने लगा। व्योम, पथ, धूलिकण, नदियां, वृक्ष, लता, वृन्त, कोकिला एवं पवनादि से वार्तालाप करती है। सम्पूर्ण प्रकृति की आलोचना करती हुई वह साध्वी रत्नवती मोक्षमार्ग में अत्यधिक रक्त हो जाती है। मंत्री भी राज्य-संचालन की सम्यक् व्यवस्था कर संयममार्ग में प्रपन्न हो जाता है। यहीं पर ग्रन्थ समाप्त हो जाता है।

प्रस्तुत काव्य की कथावस्तु जैन-चरितकाव्य की सरणि में निरूपित है। इसके कथानक में कथोत्प्ररोहशिल्प, कदलीस्थापत्य, मण्डनशिल्प, वक्ताश्रोता रूप कथा-प्रणाली, कालमिश्रण, राजप्रासाद-स्थापत्य, रोमांचकता, औपन्यासिकता, उदात्तीकरण, पारम्यनोवैज्ञानिकशिल्प, अलौकिक तत्त्वों का नियोजन आदि अनेक कथासाहित्यिक वैशिष्ट्य सन्निहित हैं। स्वतंत्र रूप से विवेच्यकाव्य के परिप्रेक्ष्य में इन वैशिष्ट्यों का

विवेचन अपेक्षित है।

संवाद

संवाद या कथोपकथन काव्य-सौष्ठव संवर्धन में सहायक होते हैं। संवाद से काव्य में निरसता का निरसन होकर नाटकवत् रोमांचकता, सम्प्रेषणीयता प्रभावोत्पादकता, अभिव्यञ्जनचारूता आदि गुणों का सहज-समावेश हो जाता है।

कथोपकथन में काव्य-पात्रों का चरित्र दर्पणवत् प्रतिबिम्बित होता है। किसी पात्र के चरित्रगत गुण-दोषों की जानकारी संवाद से ही होती है। जैसे कालिदास के दिलीप और सिंह संवाद द्वारा राजा की उत्कृष्टता एवं क्षत्रिय-धर्म की उदात्तता का प्रतिपादन हुआ है। सिंह के प्रति उत्तर में दिलीप अपने यशः शरीर की संरक्षा की प्रार्थना करते हुए कहता है :—

किमप्यहिंस्यस्तव चेन्मतोऽहं,
यशः शरीरे भव मे दयालु ॥[7]

काव्य में संवादों का महत्त्व इसलिए भी है कि काव्य की घटनाएं पात्रों के संवादों में अधिक विकसित होती है।

विवेच्य काव्य में अनेक सुन्दर संवाद अनुस्यूत हैं। प्रथम सर्ग में, राजा-सभासद एवं राजा-वृक्ष संवाद निहित हैं। सभासदों के साथ वार्तालाप क्रम में यह उभर कर सामने आता है कि देशाटन के बिना प्रसिद्धि नहीं होती है :—

ख्यातिर्नस्यात् कलास्थानं,
प्रदेशभ्रमणं विना।[8]

राजा वृक्ष संवाद लगभग ७ श्लोकों[9] में निबद्ध है। इसमें वृक्षों का मानवीकरण किया गया है। वृक्ष जड़ नहीं चेतन होते हैं, मूक नहीं मुकर होते हैं—इस तथ्य का प्रतिपादन प्रस्तुत संवाद में किया गया है। वृक्ष कहते हैं :—

चित्रं तदेतत् तव सूनवो पि,
ह्याजन्ममृत्योस्त्वदुपेक्षिताश्च ।
छायां त्यजामो न तवाग्रतोऽपि,
संतोषभाजां महिमा ह्यगम्यः ॥[10]

प्रस्तुत प्रसंग के निरूपण में विवेच्य कवि महाकवि कालिदास के प्रकृति-प्रसंगों के निकट दिखाई पड़ रहा है। यहां वृक्षों की उदारता एवं परोपकारिता का उद्घाटन हुआ है।

द्वितीय सर्ग में राजा और युवति का संवाद निविष्ट है।[11] प्रस्तुत संवाद में राजा के प्रति युवति के आकर्षण का कारण एवं युवति की पूर्वकथा कथोत्प्ररोह शिल्प में निरूपित है। अत्यन्त प्रेमिल वातावरण में इस संवाद का प्रारम्भ होता है। हंसती बाला अपने परिचय प्रसंग में ज्योतिर्विदों द्वारा कृत भविष्यवाणी को कहती है :—

भूपाल ! भूमी किल रत्नगर्भा,
रत्नान्यनेकानि यतः प्रसूते ।
तन्मध्यगंस्यैकमणेः प्रकाशो,
प्रकाशयत् त्वां मम भाग्यचन्द्रम् ॥[12]

इस संवाद में अनेक काव्य तत्त्वों का सुन्दरोपन्यास हुआ है। अलंकारों में उपमा काव्यलिङ्ग, रूपकादि का प्रयोग आकर्षक है। यह संवादकथा संप्रेषण एवं संवर्धन में सहायक है।

तृतीय सर्ग में दो :—राजा—रात्री[13] तथा राजा—पृथ्वी[14] संवाद सन्यस्त हैं। प्रथम में रात्री की उक्ति अत्यन्त मार्मिक है। वह कहती है—मेरे अन्धकार से अधिक दुःखदायी मानसिक अन्धकार है। मन के अन्धकार के विनाश होने पर सारा अन्धकार (अज्ञान) स्वयमेव समाप्त हो जाता है। आश्चर्य ! मनुष्य कितने अविवेकी हैं। मेरे अन्धकार को तो दीप जलाकर दूर करना चाहते हैं, किन्तु अपने मन के अन्धकार को मिटाना नहीं चाहते :—

परमहो ! मनुजा अविवेकिनो,
नहि भवन्ति रहस्यविदः क्वचित्।
अपचिकीर्षव एव तमो मम,
गृहमणेर्निचयान्मनसो न च ॥[15]

द्वितीय में राजा के नैतिक पक्ष का उद्घाटन हुआ है। पृथ्वी कहती है :—जो मेरी संतति पर दया नहीं करता, जो कभी भी उपकार नहीं करता, कुछ विशेषता नहीं रखता, वह व्यर्थ ही केवल नाममात्र का मेरा स्वामी होता है :—

न दयते मम संततिमेव यत्,
न तनुते च परोपकृतिं क्वचित्।
सृजति कामपि नैव विशेषतां,
भवति फल्गु ममेश्वर नामभृत् ॥[16]

पांचवें सर्ग में मुनि और सचिव का संवाद[17] प्ररूपित है। यह संवाद राजनीति की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। सचिव के कर्त्तव्य का सम्यक् निरूपण किया गया है। मन्त्री राजा का अनुगामी होता है। धर्म के प्रभाव से राज्य-व्यवस्था सात्विक हो जाती है, आदि।

चरित्र-चित्रण

काव्यालोचना में चरित्र-चित्रण प्रमुख होता है। कवि अपनी वैयक्तिक इच्छा, धारणा, विश्वासादि के अनुसार ही विविध पात्रों का सृजन करता है। आलोच्य काव्य 'चरित्र-स्थापत्य' अथवा शीलस्थापत्य की दृष्टि में विवेच्य है।

अरस्तू के अनुसार चारित्र्य उसे कहते हैं जो किसी व्यक्ति की रुचि-विरुचि का प्रदर्शन करता हुआ नैतिक प्रयोजन को व्यक्त करे।[18] आचार्य शुक्ल के शब्दों में—'शील हृदय की वह स्थाई स्थिति है जो सदाचार की प्रेरणा आपसे आप करती है।'[19] चरित्र स्थापत्य के द्वारा ही मानवीय मनोवेग, भावावेश विचार, भावना, उद्देश्य और प्रयोजनादि का सूक्ष्मातिसूक्ष्म आकलन होता है, अतएव काव्य, नाटक, कथादि साहित्य का मूलाधार है : 'चरित्र-चित्रण'।

संस्कृत साहित्य के मनीषी विद्वान् युवाचार्य महाप्रज्ञ ने चतुर्दिक् जगत् से अनुभवों को प्राप्त कर विवेच्य काव्य में विविध पात्रों का सृजन किया है। पात्रों का

निर्वाणमार्गी होना कवि के निज-जीवन का वैशिष्ट्य है।

'रत्नपालचरित' के पात्रों को दो श्रेणियों में रख सकते हैं :—१. मानवीय, २. प्रकृति जगत् से सम्बद्ध (जिनका कवि ने मानवीकरण किया है) महाकवि महाप्रज्ञ की विस्तृत चेतना और चिदम्बरीय कल्पना के चूड़ान्त निदर्शन हैं प्रकृति जगत् के पात्र—वृक्ष, रात्री, सरोवर आदि। वृक्षादि के मानवीकरण की कला कवि महाप्रज्ञ को उस मधुमती भूमिका में पहुंचा देती है जहां वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, जयदेव, भवभूति आदि प्रतिष्ठित हैं या यह भी कह सकते हैं कि महाकवि साधना और समाधि के बल पर वहां पहुंचा हुआ दिखाई पड़ता है जहां व्यक्ति जड़-चेतन विभेद में कृपण हो जाता है। अस्तु।

मानवीय पात्रों में राजा रत्नपाल, युवति कुमारी रत्नवती, मंत्री, चन्द्रकीर्ति-चन्द्रकांता, सुकोशा आदि प्रमुख हैं।

रत्नपाल

विवेच्य काव्य का नायक है :—रत्नपाल। वह धीरोदात्त श्रेणी में प्रतिष्ठित है। नायक-चरित्र के माध्यम से कवि ने संसारचारक में फंसे जीवों के लिए कल्याण-मार्ग का निरूपण किया है।

विवेच्य काव्य में रत्नपाल के जीवन से सम्बद्ध विविध अवस्थाओं का चित्रण मिलता है। बालक, युवक, प्रजावत्सल राजा, स्पर्धाभावयुक्तस्वाभिमानी राजा, भव्य और अन्त में मुनि के रूप में उसका दर्शन होता है। तृतीय सर्ग में सचिव रत्नवती से अपने राजा की वार्ता बताने के क्रम में उसके तीन रूपों (अवस्थाओं) का प्रतिपादन करता है। ये बालक, युवक और प्रजावत्सल राजा।

बालक

शक्रपुर के राजा चन्द्रकीर्ति और महिषी चन्द्रकान्ता ने एक पुत्र को जन्म दिया। गर्भावस्था के समय स्वप्न में दृष्ट रत्नराशि के समान सुन्दर होने के कारण पुत्र का नाम रत्नपाल रखा गया।[२०] वह इतना सुन्दर था जिसके कारण स्त्रियां उसे क्षण भर भी नहीं छोड़ती थी।[२१] उसके कला-कलाप को देखकर चन्द्रमा की भी नींद उड़ गयी :—

कलाकलापं समवेक्ष्य तस्य,
चन्द्रस्ततन्द्रो भ्रमति ह्यु षापि।
कलानिधित्वे प्रथमोऽयमर्च्यो-
स्म्यहं द्वितीयस्त्विति चिन्तयार्त ॥[२२]

युवावस्था

कुमारावस्था को पार कर वह युवावस्था में प्रवेश करता है। कोशलराज की पुत्री सुकोशा के साथ उसका परिणय-संस्कार सम्पन्न होता है। उचित समय में राजा ने उसका राज्याभिषेक कर दिया।

प्रजावत्सल

वह प्रजानुरञ्जक राजा सिद्ध हुआ। ऐसे कुल, शील, वीर्य एवं सदाचार सम्पन्न

राजा (को पति रूप में) पाकर वसुमती (पृथ्वी) प्रफुल्लित होती है :—

अहह ! मेदुरमोद समन्विता,
वसुमती सति तत्र विभावभुत् ।
ध्रुवमवाप्य मनोरुचितं नहि,
भवति ललना ललिताशया ॥[२१]

गर्वित (स्वभिमानी) राजा

प्रथम सर्ग में राजा सूर्य के साथ स्पर्धा करते हुए स्वाभिमानी राजा के रूप में दिखाई पड़ता है। प्रस्तुत प्रसंग में सूर्य से राजा की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है। सूर्या भी उसकी सपर्या के लिए लालायित है :—

अहर्निशं पाति भयान्मनुष्यानऽयं,
दिनेष्वेव ममांशुराशिः ।
इतीव तस्याऽवनिपालमौले,
सूर्यः सपर्येच्छुरिवोन्मुखोऽभूत ॥[२४]

भ्रमणशील

एक सभासद से 'न मन्दिरस्थस्य भवेत् प्रसिद्धिर्बिना प्रदेशाटनमत्र लोके'[२५] अर्थात् प्रदेश के बिना प्रसिद्धि नहीं होती है इसलिए सूर्य घूम रहा है। ऐसा सुनकर राजा देशभ्रमण के लिए निकल जाता है।[२६] भ्रमण-प्रसंग में ही एक अदृश्य युवति उसके गले में माला डालकर स्तुति करती है।[२७] स्तुति में राजा के अनेक गुणों का प्रतिपादन किया गया है। वह शत्रु रूप अंधकार के लिए सूर्य के समान, जगत् के लिए अगम्य गति वाला, रम्यमति से युक्त, पुण्य कमल के सरोवर, वाञ्छाफल प्रदायक कल्पवृक्ष, कविस्तुत्य, सम्पूर्ण पृथ्वी का अधिपति, लक्ष्मीपति, नवमंगल के कर्त्ता एवं जगदोद्धारक है।

रत्नपाल अतिशय विद्याबल से युक्त तो था ही संतोष रूप अलभ्यगुण से अलंकृतभी था। आत्मबल एवं विद्याबल से युवति के अपहृत राज्य को जीतकर सहर्ष वापस लौटा देता है :

विद्याबलादात्मबलातिरेकाद्,
विजित्य तं राज्यमथो ददेऽस्मै ।
नैवोत्तमा लोभलवं स्पृशन्ति,
यतो न लोभात् परमस्ति पापम् ॥[२८]

वह जाति-स्मृति-ज्ञान से विभूषित होता है। उसे स्मरण होता है कि वह पूर्व जन्म में एक दरिद्र ब्राह्मण था। एक मुनि द्वारा महामंत्र प्राप्त कर मन्त्र प्रभाव से राजा रत्नपाल के रूप में उत्पन्न हुआ।

मन्त्रस्य सोऽयं महिमाऽवगम्यो,
जातः स एवाहमिलेश सूनुः ॥[२९]

पांचवें सर्ग में उसका दर्शन महाव्रत-शील अधिरूढ़ मुनि के रूप में होता है।

इस प्रकार राजा रत्नपाल के रूप में एक सफल चरित-नायक का उपस्थान

किया गया है। कवि इस कला में (चरित्र निरूपण कला में) दक्ष प्रतीत होता है।

मंत्री

मंत्री का चरित्र विवेच्य काव्य में अत्यन्त उदात्त है। वह दो बार काव्य में उपस्थित होता है : प्रथम तृतीय सर्ग में राजा को खोजते हुए और पुनः पांचवें सर्ग में मुनि के साथ वार्तालाप करते हुए या मुनि की पर्युपासना करते हुए दिखाई पड़ता है। वार्ता प्रसंग में सचिव का चरित्र प्रतिबिम्बित होता है—मंत्री राजा का सदा अनुगामी होता है। वह राजा का दूसरा हृदय होता है :—

द्वैतीयीकमिलाधवस्य हृदयं मन्त्री कृतज्ञो भवेत्।
यत्रानुग्रह निग्रहौ नरपतेस्तत्रैव तस्यापि च॥
दुःखी दुःखिनि भूपतौ सुखिनि वा सौख्यं श्रितश्चिन्तिते।
चिन्तावांश्च विरज्जिते विरति मानात्मेक्य मेवाऽथवा॥[30]

यहां महाकवि भास के 'स्वप्नवासवदत्ता' नाटक के नायक उदयन के निजि-सचिव की दशा से रत्नपाल-सचिव का चरित्र तुलनीय है।[31]

रत्नवती

श्रीपत्तननगर के नृपत्ति की सुन्दरी कन्या रत्नवती इस चरितकाव्य की नायिका है। उसके चार रूप इस काव्य में द्रष्टव्य है। राजा रत्नपाल पर आसक्त यौवनधन्या मुस्कराती हुई कुमारी, विरहव्यथिता, भव्या तथा दीक्षिता-साध्वी।

राजा रत्नपाल के प्रेम में आसक्त, जवानी के सौध-शिखर पर आरूढ़ हंसती बाला का सौन्दर्य दर्शनीय है :—

स्मिताननना कर्णितपूर्ववार्ते
वारब्ध कश्चिद् वचनाभिलापम्॥[12]

राजा के अगोचर हो जाने पर युवती राजा के विरह में व्यथित होती हुई साधारणीकरण की भूमिका में पहुंच जाती है, जहां व्यक्ति पहुंचकर सम्पूर्ण संसार को प्रियतम बना देता है। सम्पूर्ण चतुर्थ-सर्ग उसके मार्मिक विरह चित्रण में ही समर्पित है। 'विक्रमोर्वशीय' के उर्वशी प्रेम में पागल उन्मत्त पुरुरवा से इस कुमारी की दशा मिलती-जुलती है। जैसे पुरु प्रकृति के एक-एक कण से पूछता है "क्या तुम मेरे प्रिया को देखे हो" उसी प्रकार यह युवति भी अपने हृदय-रत्न का पता सृष्टि के हर जड़-चेतन प्राणी से पूछती है, सहायता मांगती है :—हे सहकार तू मेरे कार्य में सहकारी होवो :—

सहकार ! त्वं भव सहकारी,
कामितनिष्पतौ सम्पन्नः।
कलरवमासादयति त्वतः,
पिको न किं पतिमपि लप्स्येऽहम्॥[11]

अशोक से शोकरहित करने की प्रार्थना करती है :—

नाऽशोकां कुरुषे किमशोक !
मां च सशोकां प्रियविरहेण।[14]

भूमि-शयन, स्वप्नदर्शन, उनिद्रा आदि विरहदशाओं का सुन्दर विश्लेषण विन्यस्त है। जैसे विरहविधुरा विधाता की आद्या सृष्टि यक्षिणी अवनिशयन करती है वैसे ही श्रीपत्तनकुमारी राजा-रत्नपाल की विछुड़न-वेदना में भूमि को ही शय्या बनाती है :—

राजसुता सुकुमारशरीरा,
या मृदुतल्पे शयिता नित्यम्।
सा विपिने कठिने भूभागे,
सम्प्रति रागः किं नहि जनयेत्।[३५]

अन्त में वह युवति जिस प्रेम मार्ग पर बढ़ चली थी उसको पूर्ण करती हुई दिखाई पड़ती है। शाश्वत शिवभूत मोक्ष-पथ का अनुगामी बनती है।

वृक्षादि प्रकृति-जगत् के चरित्र उत्कृष्ट एवं सरसशैली में निरूपित है। मानवीकरण इनका मुख्य वैशिष्ट्य है।

रस

जिसका आस्वादन किया जाए वह रस है। 'रस्यते आस्वाद्यते इति रसः' अर्थात् जिसके द्वारा भावों का आस्वादन किया जाए वह रस है—'आस्वाद्यत्वाद्रसः।' रसात्मक वाक्य को काव्य कहा जाता है—'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।[३६] रस काव्य का प्राण तत्त्व माना जाता है।

रत्नपाल चरित में अनेक सुन्दर रसो का सन्निवेश है। इसमें शान्तरस प्रमुख है।

शान्तरस

तत्त्वज्ञान या वैराग्य के कारण शान्तरस उत्पन्न होता है। इसका स्थायिभाव निर्वेद है। आचार्य हेमचन्द्र ने तृष्णा-क्षय रूप शम को शान्तरस का स्थायिभाव माना है :—

तृष्णाक्षय रूपः शमः स्थायिभावः प्राप्तः शान्तोरसः।[३७]

शम स्थायिभाव युक्त शान्तरस को मोक्ष प्रवर्तक कहा गया है—

अथ शान्तोनाम शमस्थायिभावात्मको मोक्षप्रवर्तकः।
सतु तत्वज्ञान वैराग्याशय शुद्धयादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते॥[३८]

तत्त्वज्ञान, वैराग्य चित्तशुद्धि आदि विभावमय, नियम, उपासना, व्रत, दयादि अनुभाव, निर्वेद स्मृति, धृति, शौच, स्तंभ, रोमांच आदि व्यभिचारी भाव के सहयोग से शम रूप स्थायिभाव निर्वेद दशा को प्राप्त होता है।[३९]

विवेच्य काव्य का अंगीरस शांत है। कभी रत्नवती राजा के विरह में प्रकृति के कण-कण में रत्नपाल की कल्पना करती थी अब वह शान्तरस की सरिता का अवगाहन कर धन्य-धन्य हो गयी। जो प्रिय थे तत्त्वज्ञान के उदय होते ही वे निस्सार हो गए। लता के साथ संभाषण के ब्याज से संसार की असारता का उद्घाटन द्रष्टव्य है :—

इति विलोक्य शिफे ! स्वदशां किमु,
वहसि खेदमुपैसि कृशां गतिम् ।
गतिरियं जगतः सकलस्य यद्,
भवति तद्गणना तव तत्र का ॥[४०]

विस्तार भय के कारण अन्य रसों का केवल निर्देश मात्र किया जा रहा है। वीररस १.२२, अद्भुतरस २.५ शृंगार ४.१-१२ आदि द्रष्टय हैं।

प्रकृति-चित्रण

भारतीय काव्य परम्परा में प्रकृति का महत्त्वपूर्ण स्थान है। लगभग सभी साहित्याचार्यों एवं लक्षण शास्त्रियों ने प्रकृति के महत्त्व को स्वीकार किया है।[४१]

प्रकृति जड़ नहीं चेतन है। वह मानव के सुख-दुःख में सहायिका है। कालिदास की शकुन्तला प्रकृति-कन्या है। वह पतिगृह जाती है तो पिता कण्व को कौन कहे समस्त अरण्य के पशु-पक्षी, वृक्षलताएं रोदन कर रही हैं।[४२] इस परम्परा में हमारा विवेच्य कवि पीछे कहां है ? वृक्ष पुष्प, लता, पर्वत, रात्री आदि का मानवीकरण कर कवि ने अपने विशालहृदय का परिचय दिया है। राजा के प्रति वृक्षों की वाणी उनकी (वृक्षों की) महनीयता एवं सदाशयता को संसूचित तो करती ही हैं साथ ही यह भी उद्घाटित होता है कि कवि भी उसी प्रकार का विराट् चित्त वाला है। वृक्षों की महनीयता का उदाहरण द्रष्टव्य है :—

छिन्दन्ति भिन्दन्ति जनास्तथापि,
पूत्कुर्महे नो तव सन्निधाने।
क्षमातनूजा इति संप्रधार्य,
क्षमां वहामो न रुषं सृजामः ॥[४३]

रत्नवती विरहिता होकर वन्यवृक्षों से सहातार्थ अनुरोध करती है। बदरी से कहती है :—

विसदृश कण्टकयोः समकालं,
प्राप्त जन्मनोर्निदर्शनेन ।
भाग्य विविधतां सूचयसि त्वं,
किं न तथा मम पतिमपि बदरि ! ॥[४४]

इसी प्रकार मेरु पर्वत (२.३५), कमल (१.९) सूर्य (१.१) रात्री (३/१-९) चन्द्र (२.२४) उल्लू (१.६) हाथी (१.१६) आदि द्रष्टव्य हैं।

भाषा-शैली

कवि की भाषा व्यक्तित्व के अनुरूप ही होती है। विवेच्य काव्य में परिस्कृत, परिशुद्ध संस्कृत भाषा का प्रयोग हुआ। भावों के विन्यास, कोमल-कल्पना-चारुता अभिव्यक्ति मनोरमता, सूक्ति-साधुता रूप्य-चित्रण, हृद्य-भावों का भावन आदि प्रस्तुत काव्य में सहजतया विद्यमान हैं। लोकन्यायों के प्रयोग से भाषा में संप्रेषणीयता सहज ही सन्यस्त है।

शैली एवं रीति की दृष्टि से भी काव्य महनीय है। वैदर्भी का सुन्दर विन्यास हुआ। श्रुतिमधुर शब्दों का सुंदर संगठन एवं मनोरम भावों के संयोजन से काव्य-चारुता संवर्द्धित हुई।

छन्द विन्यास

'चादयति आह्लादयतीति छन्द.' अर्थात् जो आह्लादित करे, हृदय को आनन्दित करे, वह छन्द है। छन्द-बन्ध में कही हुई बातें सशक्त एवं प्रभावोत्पादक होती हैं।

प्राचीनकाल से ही कवियों ने अपनी अनुभूति को सार्वजनीन बनाने के लिए छन्दों का सहारा लिया है।

विवेच्य काव्य में अनेक छन्दों का विनियोजन किया गया है। एक सर्ग में एक से अधिक छन्द भी प्रयुक्त हैं। अनुष्टुप्, इन्द्रवज्रा, उपजाति, उपेन्द्रज्रा, द्रुतविलम्बित, मन्दाक्रान्ता, बसन्ततिलक और शार्दूल विक्रीडित छन्द का विनियोग हुआ है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

अनुष्टुप्—

आकर्ण्य पश्चिमां युक्तिं,
राज्ञा चेतसि चिन्तितम्।
ख्यातिर्नस्यात् कला स्थानं,
प्रदेशभ्रमणं विना॥[४५]

इन्द्रवज्रा—

सौधं द्रुमाः पत्रमिहात पत्रं,
सिंहासनं भूमितलं पवित्रम्।
पतत्त्रिपत्राणि च चामराणि,
रुतं खगानां खलु बन्दिबोधः॥[४६]

उपेन्द्रवज्रा—

परोपकारः प्रवणं महान्तं,
भृतं विशुद्धेन च जीवनेन।
सरोवरं सज्जनवद् ददर्श,
क्रमादरण्यं व्यतियान् नृपोऽसौ॥[४७]

मन्दाक्रान्ता—

परसदननिविष्टः को लघुत्वं न याति,
भवति विकलकान्तिः कौमुदीशो दिनेऽसौ।
वचनविषय निष्ठो मानसस्थो विकल्पो,
भजति किमु कदाचिद् मौलिकं रूपमहर्यम्॥[४८]

अलंकार

काव्य शरीर के बाह्य शोभाधायक तत्व को अलंकार कहा जाता है।

'अलंक्रियतेऽनेन इति अलंकारः ।' अलंकार विहीन सरस्वती विधवा की तरह सुशोभित नहीं होती है। इसीलिए आचार्यों ने काव्य-धर्मिता में अलंकारों को विशेष महत्त्व दिया है।

विवेच्य काव्य में अनेक सुन्दरों, अलंकार का विनियोजन हुआ है। सूक्तिमूलक अर्थान्तरन्यास के प्रयोग में कवि सिद्धहस्त है। श्लेष, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक, उदात्त, परिकर, दृष्टान्त, विनोक्ति, पर्याय, कारणमाला, विशेषोक्ति आदि का सुन्दर निरूपण हुआ है। कुछ अलंकारों का उदाहरण द्रष्टव्य है :—

उपमा

इतश्चदन्ति प्रवरेण शुण्डा-
दण्डं समुत्पाटयतोपयातम् ।
तदेभशिक्षाप्रवणेन राज्ञा,
सस्तम्भितस्तत्त्वविदेव वादी ॥[४३]

यहां पर राजा की उपमा तत्त्वविद् से तथा हाथी की उपमा वादी से दी है। प्रस्तुत उपमान विनियोजन से लक्षित होता है कि कवि अवश्य ही तत्त्वविद् है।

शास्त्रीय उपमा का सुन्दर निदर्शन।

किं हन्यतेऽस्मत्प्रभुरेष एवा-
स्माभिः कृतघ्नैरिति चिन्तयार्तैः ।
मुक्तो गतो दूरतरं यथात्मा,
लोकान्तमुद्गच्छति कर्ममुक्तः ॥

बधिकों से मुक्त राजा (रत्ना के पिता) वैसे ही बहुत दूर चला गया जैसे कर्म मुक्त आत्मा लोकान्तर में चली जाती है। राजा की उपमा कर्म मुक्त आत्मा से तथा बधिकों की कर्म से दी गई है। मूर्त्त उपमेय के लिए अमूर्त्त उपमान का विनियोजन सफल कविधर्मिता का उदाहरण है :—

विचार गर्भा धिषणालसाऽभूद्,
मेधाविनो गर्भवती मृगीव ।
तेनैव संकल्प विहारणीयं,
न निश्चयाऽध्वानमुपैतुमर्हा ॥

यहां पर विचार मग्न राजा की मन्द बुद्धि की उपमा गर्भवती मृगी से दी गई है।

अर्थान्तरन्यास

सामान्य के विशेष के साथ अथवा विशेष का सामान्य के साथ समर्थन करना अर्थान्तरन्यास है।[४०] कथित अर्थ की सिद्धि के लिए अन्य अर्थ के न्यास को अर्थान्तर-न्यास कहते हैं।[४१] विवेच्य काव्य में अनेक स्थलों पर इस अलंकार का विनियोग हुआ है। उदाहरण —

एवं विकल्प प्रवणोऽवनीशोऽ-
नल्पप्रमोदेन पुरश्चचाल।
सन्तः पुरोगा हि भवन्ति नित्यं,
निसर्गतः सर्वविधौ कृताज्ञाः ॥[42]

तृतीय एवं चतुर्थ चरण का समर्थन पूर्वार्ध के द्वारा किया गया है। या 'निपुण नृपति सदा आगे चलने वाला था।' इसके समर्थन के लिए 'सन्तः—कृताज्ञाः' रूप सूक्ति का न्यास किया गया है। अन्य उदाहरण १.६, २.३, २३, ३०, ३२, ४६, ५१, ५३, ३.४, ३.१० द्रष्टव्य है।

रूपक

उपमेय पर उपमान का निषेध रहित आरोप को रूपक कहते हैं। उपमान उपमेय के अभेदारोप रूपक है।[43] विवेच्य काव्य में अनेक स्थलों पर इसका विनियोजन हुआ है। उदाहरण :—

जय जय दस्युतमोऽभ्रमणे।[44]

यहां दस्यु में तम का आरोप हुआ है।

जयं जय सुकृतोम्भोजसरो।[45]

तन्मध्यगस्यैक मणेः प्रकाशो,
प्रकाशयत् त्वां मम भाग्यचान्द्रम् ॥[46]

अन्य उदाहरण ३.१०, १४, १६, ४.२९, ५.१५ द्रष्टव्य हैं।

काव्यलिंग

जब वाक्यार्थ या पदार्थ के रूप में कारण का कथन किया जाए तो वहां काव्यलिंग अलंकार होता है।[47]

जीवन्नयं नैव हिताय मे स्यात्,
भयं यतो राज्य निबद्ध मेव ॥[48]

उपरोक्त अलंकारों के अतिरिक्त व्यतिरेक २.४, ३९, ३.१६, २० उत्प्रेक्षा ३.२०, ३२८, उदात्त ३.२४, ५.९ परिकर १.२२, २३, अर्थापति २.२९, ३.१८, २९, ४.३, दृष्टान्त २.२२, २.४२, ३.१०, विनोक्ति २.४८ श्लेष २.५४ पर्याय ३.२, विशेषोक्ति ५.१३ आदि का सुन्दर प्रयोग हुआ है।

सूक्ति-सौन्दर्य

सूक्ति से काव्य-चमत्कार संवर्धित होता है। सूक्तियों एवं मुहावरों के माध्यम से कठिन से कठिन विषय को सहजता पूर्वक निरूपित कर दिया जाता है। जब महाप्रज्ञ जैसे आचार्य, उपदेशक, दार्शनिक एवं सिद्ध-चिन्तक काव्यारण्य में प्रवेश करते हैं तब सूक्ति-लताओं को लहलहाना उचित ही है।

कवि महाप्रज्ञ की लगभग सभी कृत्तियों में साधु-सूक्तियों का शैली-चमत्कार कारक विन्यास हुआ है। विवेच्य काव्य में उपलब्ध कुछ सूक्तियों का उदाहरण द्रष्टव्य है :—

१. सन्तो निसर्गादुपकारिणो यत् ।[५९]

(सन्त स्वभाव से उपकारी होते हैं ।)

२. ते कल्पनायानमुपेत्य न स्युर्यत्,

पारपन्त्रै विहितान्तारायाः ।।[६०]

३. सन्तो गुरोगा हि भवन्ति नित्यं,

निसर्गतः सर्व विधौकृताज्ञा ।।[६१]

४. कणः कणः स्वागतमूर्ध्वमुर्व्याः ।[६२]

(भाग्यशाली व्यक्ति का पृथ्वी का कण-कण स्वागत करता है ।)

५. प्रकामवासेन नयेत भक्तिह्रासं····।[६३]

(एक स्थल पर निरन्तर रहने से भक्ति का ह्रास होता है ।)

६. अर्धाङ्गिनान्या हि विपत्तिकाले ।[६४]

(विपत्ति के समय अर्धाङ्गिनी भी परायी हो जाती है ।)

७. यतो न लोभात् परमस्ति पापम् ।[६५]

(लोभ से बड़ा कोई पाप नहीं है ।)

८. दशा समत्वं समतां प्रसूते ।[६६]

(समत्व दशा समता को उत्पन्न करती है ।)

९. सद्दर्शनं यन्नयनं पुनाति ।[६७]

(सज्जन व्यक्तियों के दर्शन से आंखें पवित्र होती हैं ।)

१०. मान्या गिरः संयमिनां हिताय ।[६८]

(लोक मंगल के लिए सयमियों-मुनियों के वचन को मानना चाहिए ।)

११. प्राभातिको मानसिकः पवित्रः,

संकल्प ऊर्ध्वं दिवसं पुनाति ।।[६९]

(प्रातःकाल में किया गया पवित्र मानसिक संकल्प सम्पूर्ण दिवस को पवित्र करता है ।)

१२. न खलु यत्र भवेन्निजसत्कृति-

श्चरणमेव न तत्र सुधीर्धरेत् ।।[७०]

(जहां पर स्वयं का सत्कार नहीं होता वहां पर सुधीजन एक पैर भी नहीं रखता ।)

१३. त्रपाऽनुपमस्ति धनं महिलाश्रितम् ।[७१]

(लज्जा स्त्रियों का अनुपम धन है ।)

१४. न पवनो नियतं व्रजति क्वचित् ।[७२]

(पवन कहीं भी निश्चित गति से नहीं चलता ।)

इस प्रकार अनेक हृद्य साधूक्तियों का विन्यास हुआ है ।

उद्देश्य

उद्देश्य वह तत्त्व है जिसकी मूल-प्रेरणा से ही कवि या कलाकार अपनी कृति में कलात्मकता, विधानात्मक-कुशलता, सौंदर्य-दृष्टि एवं रमनीयता आदि का सृजन करता है । इसमें किसी विशेष सिद्धांत की स्थापना, मानवता और मानव-मूल्यों की

व्याख्या, मनुष्य के शाश्वत भावों, अनुभूतियों और समस्याओं का समाधान आदि निहित रहते हैं। वह उद्देश्य कवि की सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों से प्रभावित होता है।

विवेच्य काव्य का मुख्य लक्ष्य संसार की असारता का प्रतिपादन कर निर्वाण मार्ग की प्रतिष्ठापना करना है। वस्तुतः कवि निर्वाणमार्गी है और संसार की असारता को समझ चुका है इसलिए उसकी कृति का उद्देश्य भी उसके जीवन से सम्बद्ध है। "यह सम्पूर्ण जगत् मोहविलास है" इस तथ्य का निरूपण अधोविन्यस्त श्लोक में किया गया है :—

हा स्नेहेन ! भ्रान्ताभ्रान्ति,
श्रितवत्यहमह मोहविलसितम्।
जडतां सुधियोप्यश्नुवतेतः,
कास्तु जडानां गतिस्तदानीम्॥[७२]

अन्त में लगभग सभी प्रमुख पात्रों की परिणति मुनि-धर्म (निर्वाण) में होती है।[७१]

इस प्रकार विवेच्य काव्य अनेक काव्य तत्त्वों से सम्बलित है। यह ग्रन्थ आधुनिक संस्कृत साहित्य का महार्ध्य धरोहर है। इसका शीघ्र प्रकाशन अपेक्षित है। इस पर एक बृहद् शोध-प्रबन्ध लेखन की आवश्यकता है। □

सन्दर्भ :

१. काव्यप्रकाश १.१
२. काव्यमीमांसा, चतुर्थ अध्याय पदवाक्य विवेक पृ० २७
३. तत्रैव
४. रत्नपालचरित (अप्रकाशित खंडकाव्य, पाँच सर्गों में निबंधित) १.१
५. तत्रैव १.२
६. ,, १.५
७. रघुवंश महाकाव्य २.५७
८. रत्नपालचरित १.११
९. तत्रैव १.३१-३७
१०. ,, १.३१
११. ,, २.७-२८
१२. ,, २.८
१३. ,, ३.१-९
१४. ,, ३.२८-३५
१५. ,, २.९
१६. ,, ३.३२
१७. ,, ५.४-१७
१८. अरस्तू का काव्यशास्त्र (डा० नगेन्द्र द्वारा अनुदित) पृ० २२
१९. शील निरूपण सिद्धान्त और विनियोग पृ० १
२०. रत्नपालचरित ३.२१
२१. तत्रैव ३.२२
२२. ,, ३.२४
२३. ,, ३.२९
२४. ,, १.३
२५. ,, १.१०
२६. ,, १.१२
२७. ,, १.२२-२४
२८. ,, २.३०
२९ ,, २.५५
३० ,, ५.५

३१. स्वप्नवासवदत्तम्
३२. रत्नपालचरित २.७
३३. तत्रैव ४.३
३४. ,, ४.४
३५. ,, ४.२५
३६. साहित्यदर्पण १.१
३७. काव्यानुशासन २.१७
३८. नाट्यशास्त्र ६.१-५ प्रक्षिप्त अंश
३९. डा० रघुवंश—नाट्यशास्त्र की हिन्दी व्याख्या, पृ० ३९१
४०. रत्नपालचरित ५.३८
४१. काव्यादर्श १.१६, काव्यालंकार १६।८-९, सरस्वती काष्ठाभरण ५.१३१, काव्यानुशासन—आठवां अध्याय, साहित्यदर्पण ६.३२५
४२. अभिज्ञानशाकुन्तल—चतुर्थ अंक देखें।
४३. रत्नपालचरित १.३३
४४. तत्रैव ४.५
४५. ,, १.११
४६. ,, १.१४
४७. ,, १.३७
४८. ,, २.२२
४९. ,, १.१९
५०. काव्यप्रकाश १०.१०९
५१. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति ४.३.२१
५२. रत्नपालचरित १.२९
५३. काव्यप्रकाश १०.९३
५४. रत्नपालचरित १.२२
५५. तत्रैव १.२३
५६. ,, २.८
५७. काव्यप्रकाश १०.११४
५८. रत्नपालचरित २.१५
५९. तत्रैव १.१
६०. ,, १.६
६१ ,, १.२९
६२. ,, १.३९
६३. ,, २.३
६४. ,, २.२३
६५. ,, २.३०
६६. ,, २.३३
६७. ,, २.४६
६८. ,, २.५१
६९. ,, २.५३
७०. ,, ३.३
७१. ,, ३.४
७२. ,, ४.३२
७३. ,, ५.४८

"छिन्दन्ति भिन्दन्ति जनस्तथापि
पूत्कुर्महे नो तव सन्निधाने।
क्षमातनूजा इति संप्रधार्य
क्षमां वहामो न रुषं सृजामः।।"

—रत्नपाल चरितम् १.३३

जिनसेन कृत हरिवंश पुराण में प्राचीन राजतंत्र का स्वरूप

☐ डॉ० सोहन कृष्ण पुरोहित

पुराण लेखन आर्यों की प्राचीन साहित्य-परम्परा रही है। इस परम्परा से प्रभावित होकर जैनाचार्यों ने भी जैन-पुराणों की रचना की। आचार्य जिनसेन रचित हरिवंशपुराण उच्च कोटि की धार्मिक एवं साहित्यिक कृति है। इसमें वैष्णव एवं जैन परम्पराओं में सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयास किया गया है।

जिनसेन पुन्नाट संघ के प्रसिद्ध आचार्य कीर्तिषेण के शिष्य थे। उन्होंने हरिवंश पुराण की रचना मध्य भारत के धार जिले के वर्धमानपुर (वदनावर) में प्रारम्भ कर दोस्तटिका (दुलरिया) में पूर्ण की। संस्कृत के इस ग्रन्थ को जिनसेन ने शक सम्वत् ७०५ (७८३ ई०) में लिख कर पूरा किया।[1]

हरिवंश पुराण में भगवान् नेमीनाथ और हरिवंश के नायक श्रीकृष्ण के जीवन चरित पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। यद्यपि यह एक धार्मिक ग्रन्थ है लेकिन इसमें प्राचीन राजतन्त्र के विभिन्न पहलुओं का भी समावेश हो गया है। प्राचीन राज्यों एवं राजवंशों की जानकारी प्राप्त करने हेतु इस ग्रन्थ की महत्त्वपूर्ण उपादेयता है। हरिवंश पुराण के आधार पर हम प्राचीन राज्य-व्यवस्था की निम्न रूपरेखा खींच सकते हैं—

राज पद

राज्य में राजा का महत्त्वपूर्ण स्थान था। वह अभिषेक के पश्चात् राजपद सुशोभित करता था।[2] उसका शब्द ही कानून था। राजा की आज्ञा का कोई उल्लंघन नहीं कर सकता था। वह प्रशासन का संचालम नीति (कानून) के अनुसार करता था।[3] राजा लोक-व्यवहार का ज्ञाता होता था।[4] राजा नीतिज्ञ एवं न्यायपरायण होता था।[5] सज्जन पुरुष राजा के आदर के पात्र थे। प्रजा की रक्षा करना राजा का कर्त्तव्य था। अवकाश के समय वह धर्मशास्त्रों का अध्ययन किया करता था।[6] प्रायः राजा जीव-हिंसा की इच्छा नहीं रखते थे।[7] राजा धर्म परायण होते थे और वे कभी-कभी तपस्वियों से मिलने और आशीर्वाद प्राप्त करने हेतु उनके आश्रमों पर भी जाया करते थे।[8]

राजा प्रायः अपने बड़े पुत्र को युवराज या उत्तराधिकारी घोषित करते थे। किन्तु कई बार वे युवराजपद अपने छोटे पुत्र को भी प्रदान कर देते थे।[9]

युद्ध के समय राजा सेना का नेतृत्व करते थे। युद्धोपरान्त शत्रु से सन्धि करने का अधिकार राजा को ही प्राप्त था।[10] जिनसेन के अनुसार शासक राजा, महाराजा, महाराजाधिराज, और चक्रवर्ती आदि उपाधियां धारण किया करते थे।[11] ये सभी विरूद उसकी शक्ति के प्रतीक थे।

राजा की उपाधियों में चक्रवर्ती की कल्पना हिन्दू धर्म में आदर्श शासक के लिये की गई है। यह उपाधि प्रशासन के केन्द्रीयकरण की प्रतीक थी।[12] वायु पुराण के अनुसार चक्रवर्ती सम्राट विष्णु के अवतार होते हैं। वे हर युग में अवतरित होते हैं। वे भूतकाल में भी पैदा हुए थे और भविष्य में भी पैदा होंगे।[13] कौटिल्य की मान्यता है कि जो शासक धर्म विजय से सार्वभौम सत्ता प्राप्त करता है, वह चक्रवर्ती कहलाता है।[14] चक्रवर्ती की कल्पना बौद्ध साहित्य में भी मिलती है। दीघ निकाय में कहा गया है कि चक्रवर्ती धार्मिक राजा, चारों दिशाओं के विजेता.....सागर पर्यन्त पृथ्वी को बिना दण्ड के, बिना शस्त्र के धर्म द्वारा जीतकर उस पर शासन करता है।[15] स्वयं बुद्ध अपनी तुलना चक्रवर्ती सम्राट से करते थे।[16] जैन धर्म में भी चक्रवर्ती-आदर्श का उल्लेख मिलता है। इसमें चक्रवर्ती की कल्पना कभी राजा के रूप में तो कभी तीर्थंकर के रूप में की गई। जो कि बौद्ध धर्म के समान है। जिनसेन अनुसार भरत चक्रवर्ती वृषभनाथ के समय, सगर चक्रवर्ती अजितनाथ के समय तथा मघवा और सन्तकुमार ये दो चक्रवर्ती धर्मनाथ और शान्तिनाथ के अन्तराल में हुए। शान्ति, कुन्थु और अर ये तीनों स्वयं तीर्थंकर तथा चक्रवर्ती हुए। वप्रा, सुवप्रा, महावप्रा, प्रकाशती, गन्धा, सुगन्धा, गन्धिका, गन्धमालिनी, ये आठ देश, पश्चिम विदेह क्षेत्र में नील पर्वत और सितोदा नदी के मध्य स्थित तथा दक्षिणोत्तर क्षेत्र चक्रवर्ती क्षेत्र कहलाते हैं अर्थात् इनमें चक्रवर्तियों का निवास रहा है।[17]

राज्य में राजा सर्वशक्तिमान था लेकिन यदि वह दुष्ट कर्म करता तो प्रजा उसे राज्य से बाहर खदेड़ देती थी।[18] जिनसेन लिखता है कि यदि राजा दुष्टता की अति कर देता तो उसे प्रजा के हाथों प्राणों से हाथ धोना पड़ता था।[19] इस प्रकार जिनसेन के ये विचार राजा की उत्पत्ति के देवत्व सिद्धांत विरोधी प्रतीत होते हैं।

राजा प्रशासन कार्य परिषद या राज सभा के सदस्यों की सहायता से सम्पन्न करता था। वह न्यायिक क्षेत्र का भी प्रधान था।

राजा विवाह हेतु स्वयंवरों में भी भाग लेता रहता था। सम्भवतः उसके अनेक रानियां होती थीं। जिनसेन ने लिखा है कि राजा सिंहासन पर आरूढ़ होता, दिव्य लेपन करता, सुकोमल वस्त्र पहिनता, पान चबाता, और सुगन्धित माला को धारण करता था।[20]

जिनसेन ने राजा के शारीरिक लक्षणों के सम्बन्ध में लिखा है कि राजा के हाथ स्थूल, सम और हाथी की सूण्ड के समान लम्बे हों। उसकी गर्दन शंख समान, नाभि कमल की कर्णिका की तरह और कमर, सिंह की कमर समान पतली हो। जिसके कलाई से लेकर हथेली तक तीन रेखाएं होती है, वह राजा होता है।[21]

वह राज्य, जिसमें समृद्धि हो, शान्ति हो, प्रजा को कष्ट न हों, उपद्रव न हो,

किसी बाहरी शक्ति के हस्तक्षेप का भय न हो ऐसा राज्य "**एकछत्रराज्य**" कहलाता था।[२२] इस प्रकार एकछत्र राज्य साम्राज्यवादी प्रवृति का सूचक था।

राज्य परिषद

जिनसेन के विवरण से प्रतीत होता है कि राजा पूर्णतया निरंकुश था। किन्तु वास्तविक स्थिति इसके विपरीत थी। राजा देश की परम्पराओं और कानूनों (नीति) से नियंत्रित होता था।[२३] इसके अलावा परिषद भी उसे निरंकुश होने से रोकती थी। हरिवंश पुराण में हमें राज्य परिषद और राजसभा आदि शब्द मिलते है।[२४] इसके अलावा विभिन्न अवसरों पर मन्त्रियों की भी चर्चा की गई है। राजा जब मन्त्रियों के साथ विचार-विमर्श करता तो वह परिषद कहलाती थी। किन्तु जब वह मन्त्रियों तथा उच्च अधिकारियों के साथ सामूहिक विचार-विमर्श करता तो वह राजसभा कहलाती थी। परिषद एक प्राचीन संस्था थी जिसका प्राचीन साहित्य में विस्तृत विवरण मिलता है।[२५] सम्भवतः राज परिषद में महामन्त्री (प्रधानमंत्री) पुरोहित और साधारण मंत्री सदस्य होते थे।[२६] कई बार ऐसे अवसर भी आते थे जब राजा मन्त्रियों के निर्णय को अस्वीकार कर देता था। लेकिन ऐसा बहुत कम असवरों पर ही होता था।[२७] मन्त्री मंत्र मार्ग, तर्कशास्त्र एवं राजनीति के ज्ञाता होते थे।[२८]

जब राजा किसी मन्त्री के कार्य से प्रसन्न होता तो वह उसे वरदान मांगने के लिये कहता। मंत्री उस वरदान (अवसर) को राजा के पास भविष्य में मांगने हेतु सुरक्षित रख सकता था।[२९] राज सभा में मन्त्रणा के समय वेद मन्त्रों का भी उच्चारण किया जाता था।[३०] पड़ौसी राज्यों के राजदूत राजा से मुलाकात राजसभा में ही करते। दूत के लिये यह आवश्यक था कि वह राजा से अपनी मर्यादा में रहकर ही वार्तालाप करे।[३१]

सैनिक व्यवस्था

आचार्य जिनसेन ने हरिवंश पुराण के माध्यम से प्राचीन भारत में सैनिक व्यवस्था का विस्तृत विवेचन किया है। उन्होंने प्राचीन शस्त्रों एवं युद्ध पद्धतियों की भी सूक्ष्म जानकारी प्रदान की है। युद्ध के समय राजा सेना का नेतृत्व करता था। सेनापति युद्ध में राजा की सैनिक की तरह सहायता करते। हरिवंश पुराण में दण्डरत्न, अयोध्य और द्रुतसेन आदि सेनापतियों के नाम मिलते हैं।[३२] युद्ध में उच्चकोटि का रणकौशल दिखलाने वाले वीरों की कमी नहीं थी। महारथी भी युद्ध में राजा को सहयोग करते थे।[३३] चतुरंगिणी सैनिक व्यवस्था अभी भी विद्यमान थी।[३४] इस प्रकार हस्तिसेना, अश्वसेना, रथसेना और पैदल सेना, सेना के आवश्यक अंग थे। चक्रवर्ती शासक की सेना चक्रवर्ती सेना कहलाती थी।[३५] जिनसेन ने दो घोड़ों वाले रथ का विशेष रूप से उल्लेख किया है।[३६] शासकों के पास अक्षोहिणी, अर्ध अक्षोहिणी और चौथाई अक्षोहिणी सेना होती थी।[३७] जिस सेना में १००० हाथी, १ लाख रथ, १ करोड़ घोडे, १०० करोड़ पैदल सैनिक हो वह अक्षोहिणी सेना कहलाती थी। अर्ध अक्षोहिणी एवं चौथाई अक्षोहिणी सेना भी उपर्युक्त अनुपात से ही बनती थी।[३८] एक विवरण के अनुसार रथसेना का प्रधान महारथी कहलाता था।[३९]

उन दिनों कई प्रकार की युद्ध प्रणालियां प्रचलित थीं जिनके नाम हैं यथा धर्म युद्ध, दृष्टियुद्ध, जल युद्ध और मल्ल युद्ध।[४०] साधारणतया युद्ध प्रत्यक्ष रूप से ही लड़े जाते थे।

युद्ध के दौरान शंख एवं भेरी वादन होता रहता था।[४१] युद्ध में तलवार, ढाल, खड्ग, चक्र, नाराच, गदा, मूसल, धनुष, बाण आदि शास्त्रों का प्रयोग किया जाता था।[४२] युद्ध के दौरान संदेश बाण के माध्यम से भेज जाते थे।[४३]

जिनसेन ने युद्ध में दिव्यास्त्रों के प्रयोग किये जाने का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है। सुदर्शन चक्र एक घातक शस्त्र था। वज्र नामक शस्त्र १२ योजन की दूरी तक मार कर सकता था। जब यह शस्त्र चलता तो उसमें से तीव्र ध्वनि निकलती थी। युद्ध में आग्नेयास्त्र, वारुणास्त्र, मोहनास्त्र, वायव्यास्त्र (आकाश में चलने वाला), माहेन्द्रास्त्र (शत्रु को काटनेवाला), नागास्त्र (अग्नि के समान ज्वलनशील एवं देदिप्यमान), गरुड़ास्त्र (नागास्त्र को ग्रसने वाला), महाश्वसनास्त्र (तीव्र आंधी चलाने वाला), महास्त्र, तामास्त्र, अश्वग्रीवास्त्र, ब्रह्मशिरशास्त्र और चक्ररत्नास्त्र का प्रयोग किया जाता था।[४४]

जिस युद्ध में एक राजा से अनेक राजा युद्ध करते थे वह अन्याय युद्ध और जिसमें एक राजा से एक राजा युद्ध करता था वह धर्म युद्ध कहलाता था।[४५]

युद्ध की तैयारी हेतु शस्त्रों का भंडारण किया जाता था। शस्त्र भंडार को आयुधशाला कहा जाता था।

युद्ध संचालन हेतु अनेक युद्ध प्रणालियां प्रचलित थीं। जिनमें चक्रव्यूह और गरुड़ व्यूह पद्धतियां अधिक लोकप्रिय थी।

चक्रव्यूह प्रणाली में चक्राकार व्यूह रचना के १००० आरे थे। एक-एक आरे में एक एक राजा स्थित होता था। एक एक राजा के पास १००-१०० हाथी, २-२ हजार रथ, ५-५ हजार घोड़े और १६-१६ हजार पैदल सैनिक होते थे। चक्र की धारा के पास ६ हजार राजा स्थित होते थे और उन राजाओं के हाथी, घोड़ों आदि का परिमाण पूर्वोक्त परिमाण से चौथाई भाग होता था। चक्रभाग के मध्य में मुख्य योद्धा होता था और उसके साथ ५००० प्रमुख योद्धा होते थे। कुल के मान को धारण करने वाले धीर वीर पराक्रमी पचास राजा अपनी सेना के साथ चक्रधारा की सन्धियों पर अवस्थित होते थे। आरों के बीच के स्थान अपनी विशिष्ट सेनाओं से युक्त राजाओं के सहित थे। इसके अलावा व्यूह के बाहर भी अनेक राजा नाना प्रकार के व्यूह बनाकर स्थित रहते थे। चक्र व्यूह को भेदने के लिये वासुदेव कृष्ण ने गरुड़ व्यूह की रचना की थी। युद्ध में दोनों पक्षों को उनके मित्र राजा हाथी, घोड़ो, रथों तथा पैदल सैनिकों से सहायता करते थे। कई बार मित्र राजा युद्ध में व्यक्तिगत रूप से उपस्थित होकर भाग लेते थे।[४६]

न्याय व्यवस्था

राजा राज्य का प्रधान न्यायधीश था। वह अपराधियों को नियमानुसार दण्ड देता था। जब कोई व्यक्ति राजा के पास स्वयं पर अन्याय होने की शिकायत करता तो उसकी जांच गुप्तचरों से करवाई जाती थी।[४७] राज्य में कुछ लोग न्याय शास्त्र के ज्ञाता

होते थे। जिनसेन ने न्यायवेत्ता समुद्रविजय का उल्लेख किया है।[४८] न्यायवेत्ता अपराधी का दण्ड-निर्धारण करने में राजा का सहयोग करता था। न्याय शास्त्र के ज्ञाता हेतु 'न्यायपारायण' शब्द भी उल्लेखनीय है।[४९] अपराधी को कठोर दण्ड दिया जाता था। हरिवंश पुराण में उल्लिखित एक घटना प्राचीन न्याय व्यवस्था पर प्रकाश डालती है। किसी पुरोहित ने एक वणिक के रत्न धोखे से हड़प लिये। इसकी शिकायत राजा से की गई तो उसने वणिक को उसके रत्न वापिस दिलवा दिये। उस पुरोहित की सम्पत्ति राजा ने छीन ली, उसे गोबर खिलाया और फिर उसे मल्लों से इतना पिटवाया कि वह मर गया।[५०] गम्भीर अपराध करने पर हाथ पांव बान्धने तथा सिर काटने का दण्ड दिया जाता था।[५१]

अन्य पदाधिकारी

आचार्य जिनसेन ने प्रसंगवश कुछ अन्य पदाधिकारियों का उल्लेख किया है, जिनके नाम इस प्रकार है--

सामन्त[५२]—छोटा शासक

पुरोहित[५३]—प्रमुख सलाहकार धर्माधिकारी। वह आचरण सम्बन्धी विषयों पर राजा को सलाह देता था।

माण्डलिक[५४]—सामन्त से उच्चश्रेणी का अधिकारी

पहरेदार[५५]—राजा के निवास-स्थान का रक्षक

सेवक[५६]—निम्न स्तरीय राज्य कर्मचारी

दूत[५७]—राजदूत

अन्तःपुर व्यवस्था

अन्तःपुर में राज परिवार के लोग निवास करते थे। राजा का निवास-स्थान राजमहल कहलाता था।[५८] यह भवन अत्यन्त सुन्दर बना हुआ होता था। उसके निकट वापी और बगीचा भी हुआ करता। प्रायः राजा के महल महानगर में स्थित होते थे। राजकुमार के लिये अलग महल होता था।[५९]

राजा की प्रधान महिषी पटरानी कहलाती थी। नाभिराजा की पटरानी मरूदेवी थी।[६०] रानियों हेतु महादेवी विशेषण का भी प्रयोग किया जाता था।[६१] यह परम्परा गुप्तकाल में भी विद्यमान थी। रानियां एक स्थान से दूसरे स्थान पर पालकी में बैठकर जाती थी।[६२] महत्तारिका[६३] और कंचुकी[६४] एवं द्वारपालिनी[६५] अन्तपुर की व्यवस्था में सहयोग करने वाली प्रमुख महिला पदाधिकारी थीं। ये सभी परम्परागत अधिकारी रही होंगी।

राज्य की इकाइयां

सम्पूर्ण राज्य नगरों और गांवों में बंटा हुआ था। पर्वत एवं नदी से घिरा हुआ नगर खेट कहलाता था। केवल पर्वत से घिरा हुआ नगर खर्वट और पांच सौ गांव से घिरा हुआ मटम्ब कहलाता। जो नगर समुद्र के किनारे पर स्थित हों, जहाँ लोग नावों से उतरते हैं, वह स्थान द्रोणमुख कहलाता था। जहां बाड़ से घिरे घर हों, जहां शूद्र,

किसान रहते हों, जो बाग बगीचा या मकान से रहित हो, वह क्षेत्र गांव और जिस स्थान पर अहीर रहते हो वह इलाका घोष कहलाता था।[६६] नगरों में गलियां, बाजार, चौक और परकोटा होता था।[६७] पहाड़ों पर स्थित दुर्ग पहाडी दुर्ग कहलाते थे।[६८]

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि जिनसेन कृत हरिवंश पुराण एक धार्मिक ग्रन्थ ही नहीं अपितु प्राचीन इतिहास एवं राजनीति का उच्च स्तरीय संदर्भ ग्रन्थ भी है। इससे भारतीय राज्य-व्यवस्था से सम्बन्धित विभिन्न पहलुओं पर महत्त्वपूर्ण जानकारी मिलती है। □

संदर्भ

१. जिनसेन, हरिवंश पुराण, पृ. ८१०-११ (भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली, से प्रकाशित १९६२)।
२. वही, पृ. २१६
३. वही, पृ. ३४४-३४५
४. वही, पृ. २२२
५. वही, पृ. २०९
६. वही, पृ. २२०
७. वही, पृ० ३४४-४५
८. वही, पृ. ३८०
९. वही, पृ. २८२
१०. वही, पृ. ५८७,३९६
११. वही, पृ. २४० (श्लोक २१), ६१९,५४५,७३०-७३१,७४६-४८
१२. पुरोहित, सोहनकृष्ण; उत्तर भारत का प्राचीन राजनीतिक इतिहास पृ. १५७
१३. गोयल श्रीराम; हिस्टरी ऑव द इम्पीरियल गुप्ताज, पृ. १३६ टि. २
१४. कौटिल्य, अर्थशास्त्र अनुवाद गैरोला, पृ. ८३४
१५. चक्रवर्ती सीहनाद सुत्त, दीघ निकाय, ३,३
१६. उपाध्याय, भरतसिंह; बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृ. १६७
१७. जिनसेन, पूर्वो, पृ. ७३०-३१,५३९;८६-६७ (चक्रवर्ती क्षेत्र का वर्णन)।
१८. वही, पृ. ३४४-३४५
१९. वही, १
२०. वही, पृ. २२५
२१. वही, पृ. ३३७-३३८
२२. वही, पृ. २२४
२३. वही, पृ. ३८२
२४. वही, पृ. ६१६,२५४
२५. महाभारत, शान्ति पर्व, अ ८३-१५-५१; वेदालंकार सत्यकेतु; प्राचीन भारतीय राज्य व्यवस्था और राजशास्त्र, पृ. ७८
२६. जिनसेन, पूर्वो पृ. २३
२७. वही, पृ. २९८
२८. वही, पृ. ३७५,५८९
२९. वही, पृ. २९९
३०. वही, पृ. २५४
३१. वही, पृ. ७७५
३२. वही, पृ. २०२,५३४,१९९,२०६
३३. वही, पृ. ३९३
३४. वही, पृ. १७३,१९८,३५५,८१७
३५. वही, पृ. २०१
३६. वही, पृ. १९८
३७. वही, पृ. ५८८
३८. वही, १
३९. वही, पृ. ३९३
४०. वही, २०३-२०४
४१. वही, पृ. ५९३

४२. तलवार, ढाल, वही, पृ. ५९५; खड्ग, वही, पृ. ५१०; चक्र, नाराच, वही, पृ. ५९९-६००; गदा, मूसल, वही पृ. ५२०, धनुष-बाण वही, पृ. ६२
४३. जिनसेन, पूर्वो. पृ. ५४८
४४. वही, पृ. २०२-२०४,२०१,३३५,३९६,६००,६०१
४५. वही, पृ. ३९६
४६. वही, पृ. ५९०-५९१
४७. वही, पृ. ३८६
४८. वही, पृ. ३९६
४९. वही, पृ. ३८६
५०. वही, पृ. ३६५
५१. वही, पृ. ५२७-५२८
५२. वही, पृ. २३ द्रष्टव्य, अग्रवाल, वासुदेवशरण; हर्ष चरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ. २२०
५३. जिनसेन, पूर्वो. पृ. २३-२०६
५४. अपराजिता पृच्छा ७८.३२-३४; जिनसेन, वही, पृ. ७४७-७४९
५५. जिनसेन, पूर्वो. पृ. ५१७
५६. वही, पृ. ५१४
५७. वही, पृ. ५६७
५८. वही, पृ. २३
५९. वही, पृ. ५००
६०. वही, पृ. १४६
६१. वही, पृ. ५२७
६२. वही, पृ. ६२०
६३. वही, पृ. ५१४
६४. वही, पृ. ७१६
६५. वही, पृ. ५१४
६६. वही, पृ. १२
६७. वही, पृ. ८७
६८. वही, पृ. ५२६

"शाकेष्वब्द शतेषु सप्तसु दिशं पञ्चोत्तरेषूत्तरां
पातीन्द्रायुधनाम्नि कृष्णनृपजे श्रीवल्लभे दक्षिणाम् ।
पूर्वा श्रीमदवन्तिभूभृति नृपे वत्सादिराजेऽपरां
सूर्याणामधिमण्डलं जययुते वीरे वराहेऽवति ।।
कल्याणैः परिवर्धमानविपुल श्रीवर्धमाने पुरे
श्री पार्श्वालयनन्नराजवसतौ पर्याप्तशेषः पुरा ।
पश्चाद्दोस्तटिका प्रजाप्रजनित प्राज्यार्चनावर्चने
शान्तेः शान्तगृहे जिनस्य रचितोवंशो हरीणामयम् ।"

डा० कृष्णदत्त बाजपेयी

(४.४.१९१८—१०.६.१९९२)

प्रोफेसर कृष्णदत्त बाजपेयी देश के मूर्धन्य इतिहासविद् तथा पुरातत्त्वविद् थे। उनका जन्म उत्तर प्रदेश के रायबरेली जनपद में सन् १९१८ में हुआ। श्री बाजपेयी ने प्रारंभ में सन् १९४३ से १९५८ ई० तक लखनऊ तथा मथुरा पुरातत्व संग्रहालयों के क्यूरेटर और उत्तर प्रदेश के पुरातत्त्व अधिकारी के रूप में अपनी विद्वता और लगन का परिचय दिया। तत्कालीन राज्यपाल श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी तथा मुख्यमंत्री डॉ० सम्पूर्णानन्दजी के संपर्क में रहकर उन्होंने उत्तर प्रदेश के विभिन्न ऐतिहासिक स्थलों का महत्त्वपूर्ण परिचय देने वाले ग्रन्थों की रचना की। इनमें मथुरा, कन्नौज, हस्तिनापुर, अहिच्छत्रा आदि प्रमुख हैं। इसी बीच वे ब्रजमण्डल के सांस्कृतिक इतिहास को उजागर करने में जुटे। दो खण्डों में प्रकाशित उनका ग्रन्थ 'ब्रज का इतिहास' इस दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय है।

सन् १९५८ ई० में डॉ० वाजपेयी की अध्यक्षता में मध्य प्रदेश के सागर विश्वविद्यालय में प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग खोला गया। सन् १९६३ ई० में प्रो० बाजपेयी 'टैगोर प्रोफेसर' बने। इस प्रकार सन् १९४३ से १९७७ ई० तक प्रो० बाजपेयी निरन्तर अध्ययन-अध्यापन, सर्वेक्षण-उत्खनन तथा लेखन-निर्देशन में तल्लीन रहे। तदुपरान्त भी आप मृत्यु पर्यन्त सक्रिय रहे।

प्रो० बाजपेयी ने ४० से अधिक ग्रंथों की रचना की जिनमें मुख्यतः उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश का गौरवशाली अतीत उजागर हुआ है। इनमें कुछ ग्रन्थ तो अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं जैसे—'ब्रज का इतिहास', 'उत्तर प्रदेश में बौद्ध धर्म का इतिहास', युग-युगों में उत्तर प्रदेश', 'भारतीय संस्कृति में मध्य प्रदेश का योगदान', 'मध्य प्रदेश का पुरातत्त्व', 'मथुरा', 'कल्चरल हिस्ट्री ऑव इण्डिया (मध्य प्रदेश)', 'सागर थ्रू द एजेज', 'बुद्धिस्ट सेंटर्स इन उत्तर प्रदेश', 'फाइव फेजेज इन इण्डियन आर्ट' आदि। उन्होंने ८०० से अधिक शोधपत्र भी प्रकाशित किए। प्रो० बाजपेयी ने कई शोध-पत्रिकाओं का संपादन भी किया जिनमें 'ब्रज भारती', 'प्राच्य प्रतिभा' तथा 'पंचाल' प्रमुख हैं। उन्होंने कई ग्रन्थों का अंग्रेजी से हिन्दी में अनुवाद भी किया है।

— परमेश्वर सोलंकी

तेरापंथ का संस्कृत साहित्य : उद्भव और विकास ४

☐ मुनि गुलाब चंद 'निर्मोही'

चित्रमय काव्य

संस्कृत काव्य की एक और विधा है—चित्रमय काव्य। यह विधा बहुत ही जटिल और क्लिष्ट है। इसमें रचना करना अगाध पांडित्य का सूचक है। इसके लिए गहरे अध्यवसाय की आवश्यकता होती है। विक्रम की बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी के लगभग वाग्भट्ट ने अपनी कृति "वाग्भट्टालंकार" में चित्रमय श्लोकों का दिग्दर्शन कराया है। चित्रमय काव्य की रचना जटिल और क्लिष्ट होने के कारण अधिक प्रसारित नहीं हो सकी। सोलहवीं शताब्दी के पश्चात् तो वह लुप्तप्रायः हो गई। किन्तु इस लुप्तप्रायः काव्य रचना की विधा को तेरापंथ धर्मसंघ में पुनर्जीवन प्राप्त हुआ है।

जब चित्रमय काव्य रचना का प्रसंग आया तो अनेक साधुओं ने एक साथ उसमे प्रवेश किया और पर्याप्त सफलता प्राप्त की। यह चमत्कारी काव्य रचना विद्वद् मानस में चमत्कार उत्पन्न करती है। गुजरात के प्रसिद्ध विद्वान् श्री हीरालाल रसिकलाल कापडिया ने जब तेरापंथ की सांस्कृतिक गतिविधियों की जानकारी प्राप्त करते हुए चित्रमय श्लोक रचना का क्रम देखा तो हर्ष और आश्चर्य में डूब गए। उन्होंने कहा सोलहवीं शताब्दी के पश्चात् इस लुप्त काव्य रचना के प्रकार को आज मैं पहली बार देख रहा हूं।

इस काव्य रचना को देखने मात्र से काव्यकार की गहराई का अन्दाज लगाया जा सकता है। तेरापंथ के अनेक साधु कवियों ने इस प्रकार की काव्य रचना की। उनकी समग्र रचनाओं का संकलन किया जाए तो कई ग्रन्थ तैयार हो सकते हैं। संस्कृत के क्षेत्र में काव्य रचना का यह प्रकार तेरापंथ की एक विशिष्ट देन है। अवगति स्वरूप चित्रमय काव्य के कुछ श्लोक यहां उद्धृत किए जाते हैं।

हारबन्धा स्तुतिः

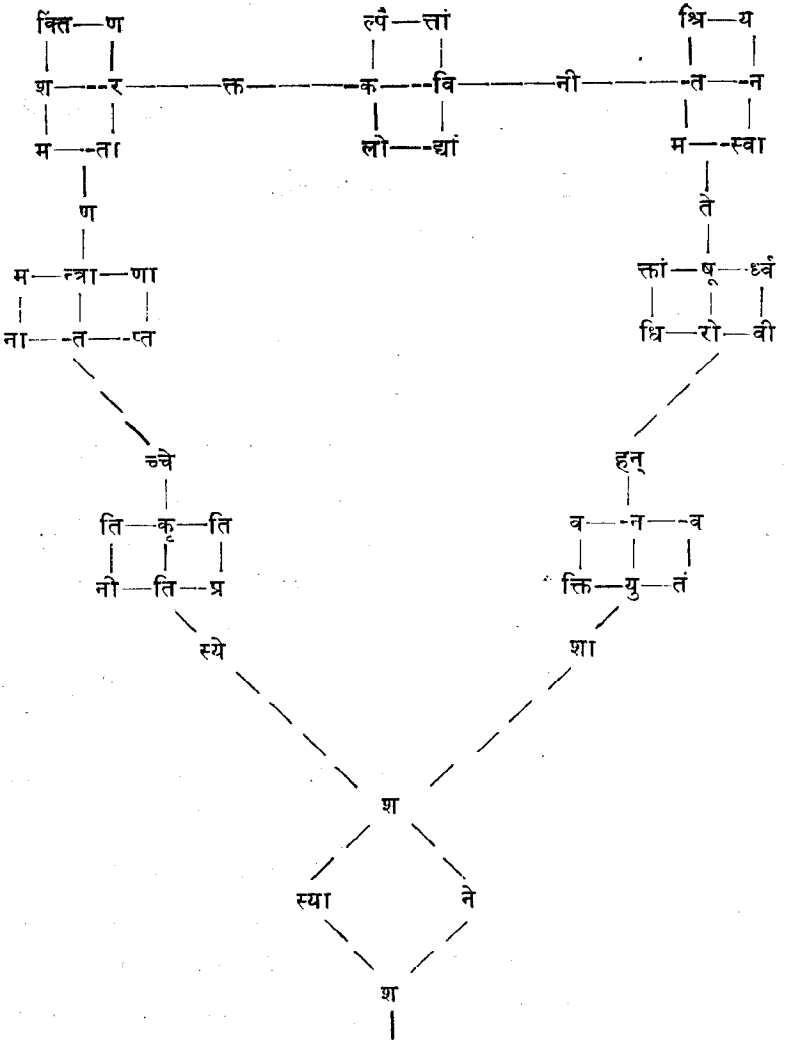

उक्त चित्रमय हारवन्ध श्लोक में ८४ अक्षर होते हैं। उनमें से ५४ अक्षर ही लिखे जाते हैं। शेष ३० अक्षरों को निकालने की प्रक्रिया यह है कि सातों गुच्छकों के मध्य के अक्षर तीन-तीन बार बोले जाते हैं और उनका संबंध प्रत्येक बार दूसरे-दूसरे अक्षर से होता है। पहला और ८४ वां तथा तीसरा और ८२ वां अक्षर एक होता है।

श्लोक रचना की इस दुरह प्रक्रिया को तब तक समझना दुरूह होता है जब तक श्लोक के चारों चरण न लिखे जाएं। उक्त श्लोक के चारों चरण इस प्रकार हैं :—

शस्या शस्येति नीति प्रतिकृति कृति कृच्चेतना तप्त तन्त्रा
मन्त्रणां त्राणशक्ति शमशरणरता रक्तकल्पैक लोक !
वित्तां विद्यां विनीत श्रितमतनयन ! स्वानतेषूर्ध्वसूक्तां
शूरो वीरोऽधिरोहन् नवनवनयुतं युक्तियुक् शासनेश !

वृष्टि चित्र के रूप में चित्रमय श्लोक का एक अन्य उदाहरण इस प्रकार है :—

वृष्टिचित्र श्लोक

के	ते	सा	या
०	०	०	०
०	०	०	०
०	०	०	०
के	ते	सा	या
०	०	०	०
०	०	०	०
०	०	०	०
लो	ध्वान्	भा	मा
०	०	०	०
०	०	०	●
०	०	०	●
दात्ताः	तस्थाः	ज्ञेया	निष्ठा

उक्त श्लोक के चारों चरण इस प्रकार हैं :—

के के लोके केलोदात्ता :
ते ते ध्वान्ते ते ध्वान्तस्थाः
सा सा भाषा साभा ज्ञेया
या या माया यामा निष्ठा ।

वृष्टि चित्रमय उक्त श्लोक में ३२ अक्षर होते हैं । किन्तु उनमें से केवल २० अक्षर ही लिखे जाते हैं । शेष १२ अक्षरों की पूर्ति जिस प्रकार वर्षा की बूंदें जमीन पर गिर कर ऊपर उछलती हैं और फिर नीचे गिरती हैं, उसी प्रकार ऊपर से नीचे तथा फिर ऊपर से नीचे तक बोल कर की जाती है ।

उपरोक्त दोनों श्लोकों के रचयिता युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ हैं । शिविका चित्र के रूप में एक और श्लोक यहां प्रस्तुत किया जा रहा है—

शिविका चित्र श्लोक

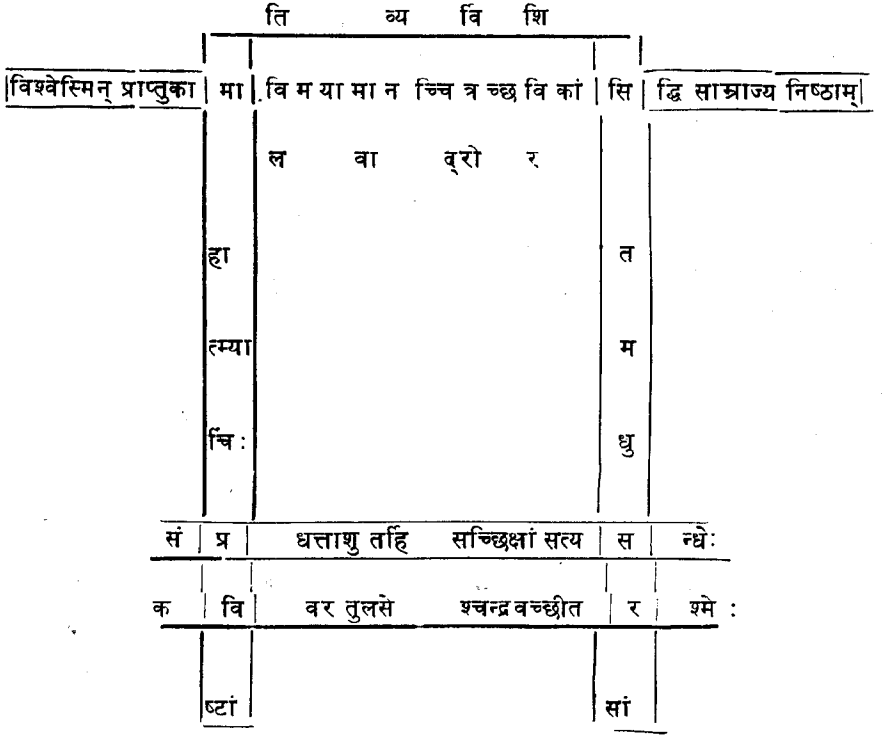

शिविका चित्र के रूप में श्लोक रचना भी जटिल होती है किन्तु कवि ने इस जटिलता को पार करते हुए इसमें सफलता प्राप्त की है। प्रस्तुत श्लोक के चारों चरण इस प्रकार हैं:—

विश्वेस्मिन् प्राप्तुकामा विमल मतिमया मानवा ! नव्यनव्यां
सच्चिद्रोचिर्विचित्रच्छविरविशिविकां सिद्धिसाम्राज्यनिष्ठाम्
माहात्म्यार्चि : प्रविष्टां, सितमधुसरसां संप्रवत्ताशु तर्हि,
सच्छिक्षां सत्यसन्धेः कविवर तुलसेश्चन्द्रवच्छीतरश्मेः ॥

उक्त शिविका बन्ध चित्रमय श्लोक में ८४ अक्षर होते हैं किन्तु उनमें से केवल ७० अक्षर ही लिखे जाते हैं। शेष १४ अक्षरों की पूर्ति भिन्न भिन्न प्रकोष्ठों के अक्षरों से की जाती है। उक्त श्लोक के रचयिता मुनिश्री नवरत्नमल हैं। उन्होंने अनेक प्रकार के चित्रमय श्लोकों की रचना की है।

किसी विषय पर पंचक, सप्तक, अष्टक, दशक, षोडशक आदि की रचना तो तेरापंथ धर्म संघ के साधु-साध्वियों के लिए बहुत सहज कार्य है। पचासों साधु-साध्वियों ने इस दृष्टि से अनेक विषयों पर रचनाएं की हैं। अनेक द्वात्रिंशिकाएं भी लिखी गई हैं। बौद्धिक स्फुरणा के लिए अव्यय निबन्ध, एकाक्षर निबन्ध आदि लिखे गए हैं। साधु-साध्वियों द्वारा सम्पादित हस्तलिखितपत्रिकाओं के संस्कृत विशेषांक निकाले गए हैं। समय-समय पर होने वाली विद्वद्गोष्ठियों में गवेषणा पूर्ण संस्कृत निबन्ध पढ़े गए हैं। बहुत बार परस्पर केवल संस्कृत में ही बोलने का क्रम रहा है। इससे संस्कृत में वाक् प्रवणता का विकास हुआ। साधुओं की तरह साध्वी समाज में भी संस्कृत का अध्ययन और विकास हुआ।

बीदासर की घटना

हर विकास के मूल में एक गहरी प्रेरणा होती है। प्रेरणा से ही कार्य की निष्पत्ति होती है। तेरापन्थ में संस्कृत के विकास में भी एक ऐसी गहरी प्रेरणा ने काम किया जो आज शतशाखी के रूप में पल्लवित है। विक्रम की बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में संस्कृत के प्रति अनुराग होते हुए भी कोई साधु ऐसा नहीं था जो किसी श्लोक का पूरा अर्थ कर सके। वि. सं. १९६० की घटना है। तेरापन्थ के सातवें आचार्यश्री डालगणी का बीदासर (राजस्थान) में प्रवास था। वहां के तत्कालीन ठाकुर श्री हुकुम सिंह जो संस्कृत के विद्वान नहीं थे पर संस्कृत-प्रेमी अवश्य थे, ने एक संस्कृत का श्लोक डालगणी के पास भेजा और उसका अर्थ जानना चाहा किन्तु वहां उपस्थित साधुओं में से किसी के समझ में उसका अर्थ नहीं आया। आचार्यश्री कालूगणी उस समय मुनि अवस्था में थे। उन्हें संस्कृत के अध्ययन की यह कमी बहुत खटकने लगी। उसी समय से उनकी सुप्तवृत्तियां जाग उठी और संस्कृत का अधिकार पूर्ण अध्ययन करने का मन में विचार किया। उन्होंने सारस्वत का पूर्वार्ध कण्ठस्थ करना प्रारम्भ कर दिया। उसी वर्ष चुरू (राजस्थान) में पंडित घनश्याम दास का योग मिला। उन्होंने सेवाभाव से संस्कृत व्याकरण का अध्ययन करवाया। उसके पश्चात् तो, 'जहां चाह वहां राह' वाली कहावत चरितार्थ होने लगी और विकास के नये-नये आयाम उद्घटित होने लगे।

संस्कृत साहित्य में नाटक का महत्त्व भी बहुत प्राचीन काल से रहा है। काव्य केवल श्रुतिप्रिय होता है किन्तु नाटक श्रुति प्रिय होने के साथ दृष्टि प्रिय भी होता हैं। यही कारण है कि श्रव्य की अपेक्षा दृश्य में जन मानस का आकर्षण अधिक होता है। कालिदास की ख्याति उनकी काव्य कृतियों की अपेक्षा नाटक कृति से अधिक हुई है। उनका "अभिज्ञान शाकुन्तलम्" इस दृष्टि से बेजोड़ कृति कही जाती है।

जैन परम्परा में संस्कृत नाटक साहित्य का विकास बहुत सीमित हुआ है। तेरा-

पन्थ में भी अन्य साहित्यिक विकास की तुलना में संस्कृत नाटक साहित्य का विकास, होना अभी अवशेष हैं । प्रारंभिक रूप में कुछ एकांकी अवश्यलिखे गए हैं किन्तु निकटवर्ती अतीत काल में संस्कृत के विकास को देखते हुए भविष्य में नाटक साहित्य का भी यथेष्ट विकास हो सकेगा, ऐसी सम्भावना खोजी जा सकती है ।

तेरापन्थ के संस्कृत साहित्य के उद्भव और विकास की संक्षिप्त प्रस्तुति इस निबन्ध में हुई है है । अनवगति और अनुपलब्धि के कारण संभव हैं पूर्ण परिचिति में कुछ अवशेष भी रहा हो फिर भी उपलब्ध साहित्य का यथासंभव परिचय देने का प्रयत्न किया गया है । विक्रम की बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध और इक्कीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में तेरापंथ धर्म संघ ने संस्कृत वांङ्मय को विभिन्न नए उन्मेष प्रदान किए हैं । अतीत के सिंहावलोकन के आधार पर अनागत का योग और अधिक मूल्यवान हो सकेगा, ऐसी आशंसा स्वाभाविक है । □

महावीराष्टकम्

उन्नता चरणे श्रद्धा, वृद्धा सा पापकर्मणि ।
सन्नद्धा स्वात्मसंज्ञाने, देव ! भूयात् सदा मम ।।१।।
सत्कृतो वाऽसत्कृतो वा, त्वया स्यां स्यां न वा पुनः ।
वीतरागो यतोऽसि त्वं, त्वं सदा सत्कृतो मया ।।२।।
स्नेहार्द्रैश्चक्षुषोर्वार्ष्पैः, क्षालितौ चरणौ तव ।
क्षालयेराकृतिं नाप्तश्चापि मे मानसं मलम् ।।३।।
अदृश्यो यदि दृश्यो न, भक्तेनाऽपि मया प्रभो !
स्याद्वादस्ते कथं तर्हि, भावी मे हृदयं गमः ।।४।।
अर्पयामि मनोभावं, ग्राह्यं विनिमये किमु ।
हा ! बुद्धोस्मि क्षणेनापि, फलाशा दोषदार्पणे ।।५।।
तवाहमिति मे बुद्धिः, त्वं ममेत्यपि सादरम् ।
परे जानन्तु मा वा किं, साक्ष्यापेक्षोऽसि सर्ववित् ।।६।।
किं करोमि तवार्थं हे, देव ! नापेक्ष्यता मिति ।
ममार्थं किं विधाताऽसि, ममापेक्षा महीयसी ।।७।।
कर्तृत्वमात्मनोऽपास्य, भक्तानां किं करिष्यसि ।
यत्कृतं तत्कृते हेतुर्भवेः स्यां सदृशस्तव ।।८।।

—युवाचार्य महाप्रज्ञस्य

न्याय-वैशेषिक, योग एवं जैन दर्शनों के संदर्भ में ईश्वर

☐ डॉ० कमलापंत

महर्षि व्यास के शब्दों में स्वतः ईशनशील अर्थात् इच्छामात्र से सम्पूर्ण जगत् का उद्धार करने में समर्थ शक्ति 'ईश्वर' है—'इच्छामात्रेण सकलजगदुद्धरणक्षमः' (योगसूत्र १।२४ की व्याख्या)। संसार की प्रायः सभी जातियों, धर्मों और भाषा के अनुयायी परमपिता परमेश्वर को मानते हैं। यद्यपि नाम अलग-अलग हैं। ईश्वर शब्द से प्रायः प्रत्येक भारतीय मानस सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सृष्टिकर्ता, नियन्ता आदि अलौकिक गुणों से मण्डित एक अव्यक्त शक्ति के संकेत को मानता है। इसे ईश्वर, परमेश्वर, परमात्मा, ब्रह्म इत्यादि विविध नामों से सम्बोधित किया जाता है। अधिकांश भारतीय दर्शनों में ईश्वर नामक पृथक् तत्त्व जीवों द्वारा पूज्य है। चार्वाक, बौद्ध, जैन, निरीश्वर सांख्य एवं मीमांसकों ने ईश्वर की सत्ता स्वीकार नहीं की है। चार्वाक ईश्वर की अलौकिक सत्ता का खण्डन कर पृथिवी के राजा को परमेश्वर मानते है।[1] बौद्ध एवं जैन विचारक अपने-अपने धर्म प्रवर्तकों को ईश्वर की संज्ञा देते हैं। मीमांसा दर्शन में प्राणियों के कर्मफलदाता के रूप में 'अदृष्ट अथवा अपूर्व नामक एक शक्ति की कल्पना की गयी है।[2] वैयाकरणों, न्याय-वैशेषिकों, योग दार्शनिकों एवं वेदान्तियों ने ईश्वर का अस्तित्व माना है।

वैयाकरण शब्द की परा अवस्था (स्फोट) को ईश्वर स्वीकार करते हैं।[3] न्याय-वैशेषिक में ईश्वर जगत् की रचना-पालन-संहार करने वाला, कर्मफलदाता, इच्छा से परमाणु स्पन्दन करने वाला एवं जीवों को उनकी प्रवृत्ति के अनुसार विविध कार्यों में लगाने वाला है। योगसम्मत ईश्वर सर्वथा निर्लेप एवं निर्गुण है। शंकराचार्य द्वारा मान्य ईश्वर पारमार्थिक है।[4] जगत् एवं ईश्वर की सत्ता में अन्तर है। माया के आधार पर ईश्वर संसार का उपादान कारण विवर्त सिद्धांत की दृष्टि से बनता है।[5] रामानुज सिद्धांत का ईश्वर जीवों का नियामक, अर्न्तयामी, कर्मफलदाता और उनसे पृथक् पदार्थ है क्योंकि जीव और जड़ उसके शरीर है।[6] ईश्वर की ऐसी ही कल्पना करते हुए माधवाचार्य इसे अन्य पदार्थों से सर्वथा पृथक् स्वीकार करते हैं। प्रस्तुत लेख में मुख्यतः न्यायवैशेषिक, योग एवं जैन सम्मत ईश्वर के स्वरूप पर संक्षिप्त तुलनात्मक दृष्टि से प्रकाश डालने का प्रयास किया जा रहा है—

न्याय-वैशेषिक में ईश्वर को एक पृथक् तत्त्व न कहकर आत्मा द्रव्य के दो अवान्तर भेद माने गए हैं—जीवात्मा और परमात्मा। इस तरह ईश्वर का आत्म रूप द्रव्य में अन्तर्भाव हो जाता है। इनके विचार के विषय में मैक्समूलर लिखते हैं कि

ईश्वर अपने उच्चतम रूप में परमात्मा और अपने निम्न रूप में जीवात्मा है।[७] वस्तुतः महर्षि गौतम और कणाद के सूत्रों में ईश्वर का संकेत मात्र मिलता है किन्तु वात्स्यायन और प्रशस्तपाद इन दोनों भाष्यकारों ने अपने-अपने भाष्यों में ईश्वर को प्रधानता दी है। सम्भवतः ईश्वर के सृष्टि निर्माता ही होने के कारण गौतम और कणाद ने इसके विषय में संकेतमात्र देना ही पर्याप्त समझा हो। जैसा कि इमैनुवल काण्ट एवं हर्मन लाट्जा कहते हैं कि सब प्रमाणों का आधार होने के कारण ईश्वर सिद्धि के लिए परम्परागत उक्तियां उचित नहीं है।[८] नैयायिकों और वैशेषिकों के मतानुसार श्रुति में भी आत्मा शब्द परमात्मा में आत्मत्व स्वीकृत है। ये अद्वैत वेदान्त के समान ब्रह्म या ईश्वर का प्रत्यक्ष नहीं मानते हैं।[९] अनुमान एवं आगम दो प्रमाणों से ईश्वर का अस्तित्व प्रामाणित किया जाता है। वात्स्यायन लिखते हैं—संसार में किसी विषय में प्रयत्न करने पर भी सफल न होने से अनुमान होता है कि प्राणिकृत कर्मफल की प्राप्ति किसी और के अधीन है। यही कर्मनियन्ता परमात्मा, सृष्टिकर्ता और रक्षक है।[१०]

कार्यसिद्धि कर्ता के बिना सम्भव नहीं है। जैसे कुम्हार मिट्टी से घड़ा बनाता है ऐसे ही पृथिव्यादि अवयविरूप ईश्वर ने बनाए हैं। ईश्वर सृष्टि का निमित्त कारण और परमाणु उपादान कारण होते हैं। बीज से अंकुर स्वयं उत्पन्न नहीं होते, अगोचर और अगम्य ईश्वर ही इनका कर्ता होता है।[११] "द्यावाभूमि जनयन देव एको विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता"—न्याय सिद्धात मुक्तावली (१।१) में उद्धृत यह वाक्य नैयायिकों के मत का सुदृढ़ प्रमाण है। न्यायकारिकावलीकार[१२] एवं प्रसिद्ध नव्य नैयायिक रघुनाथ शिरोमणि ने भी परमात्मा को नमस्कार किया है।[१३]

आत्मा के दो लक्षण ज्ञान गुण एवं आत्मत्व जाति, सुख, इच्छा, प्रयत्नादि नित्य होते हैं।[१४] परमात्मा नित्य, सर्वज्ञ, विभु, अशरीरी, वेदनिर्माता, जीवों के शुभाशुभ कर्मों का अधिष्ठाता, सर्वनियामक एवं लौकिक कर्ता न होकर क्लेश कर्मसुखादि से रहित पुरुषविशेष कहा गया है।[१५] उसमें सुखदुःख, द्वेष, भोग, संस्कार आदि जीवात्मा के अनुकूल गुण अस्वीकृत हैं। जैसे जीवात्मा में देह को प्रेरित (सचेष्ट) करने की शक्ति होती है वैसे ही ईश्वर इच्छामात्र से जगत् की रचना कर देता है।[१६] कर्मफल का अदृष्टानुसार निष्पक्ष दाता, परमात्मा, मनीषियों द्वारा कथित स्वर्गापवर्गमार्ग से प्राप्त एवं जीवों का उपास्य होता है।[१७] कुछ विद्वानों के अनुसार योगियों को आत्मा एवं ईश्वर दोनों का (आत्मा से समवाय सम्बन्ध से वर्तमान ज्ञानादि गुणों का संयुक्त समवाय संनिकर्ष से) प्रत्यक्षज्ञान हो सकता है।[१८]

न्याय-वैशेषिक के समान योग दर्शन में भी ईश्वर को पुरुष, दूसरे शब्दों में आत्मा विशेष कहा गया है किन्तु फिर भी पुरुष या आत्मतत्त्व में उसका अन्तर्भाव न कर पृथक् तत्त्व (प्रकृति-पुरुष से) माना गया है।[१९] योग सम्मत ईश्वर नित्यतृप्त, पूर्णकाम, क्लेशों-कर्मों-विपाक से रहित, ऐश्वर्य की पराकाष्ठा, सर्वज्ञ, निरतिशय ज्ञानी, एवं करुणावश सृष्टि में प्रवृत्त होने वाला है।[२०] वह पूर्वजों का भी गुरु है।[२१] प्रणव (ओइम्) ईश्वरवाचक शब्द स्वीकार किया गया है। प्रणव का जप तथा जपकाल में इसके अभिधेय ईश्वर के विषय में चिन्तन किया जाता है, समस्त शुभाशुभ कर्म

ईश्वर में अर्पण किए जाते हैं।[२२] इससे अनेक लाभ बताए गए हैं—समाधिलाभ, कैवल्य, विघ्नक्षय इत्यादि।[२३] उदयवीर शास्त्री निरीश्वर सांख्य दर्शन में भी ईश्वर के उक्त अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। सूत्रकार और भाष्यकार व्यास ने मात्र योग के चरम लक्ष्य तक पहुंचाने में ईश्वर का उल्लेख सहायक साधन के रूप में किया है किन्तु कुछ व्याख्याकारों ने उसे सृष्टि के निमित्त कारण के रूप में बताया है।[२४]

जैन मत के अनुसार आत्मा के मलिन और निर्मल स्वरूप के आधार पर तीन भेद कहे जा सकते हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा एवं परमात्मा। पूर्ण और निर्मल केवल ज्ञान की प्राप्ति से अपने चैतन्य स्वरूप और लोकालोक की समस्त वस्तुओं को जानने वाले आत्मा की स्थिति को परमात्मा नाम दिया गया है।[२५] अतएव कर्मबन्धों से रहित मुक्त जीव परमात्मा है, जीवन्मुक्त जीव अर्हत् और विदेह मुक्त (सिद्धशिला में स्थित) जीव सिद्ध कहलाते हैं। मुक्त जीव या जैन सम्मत परमात्मा अपने ज्ञान से सभी वस्तुओं को व्याप्त करने से विष्णु,[२६] अखण्ड ब्रह्मचर्य वाला होने से परब्रह्म और केवलज्ञान रूप ऐश्वर्यवश ईश्वर नाम से सम्बोधित किया जाता है।[२७] यह अनादिमुक्त परमात्मा न होकर मोक्षमार्ग का उपदेशक, सर्वज्ञ, सादिमुक्त ईश्वर है। जैनविचार में संसार नित्य है[२८] एवं जीव अपने सुख-दुःख का कर्ता और भोक्ता स्वयं है। इनके द्वारा मान्य कर्म-सिद्धान्त इतना सुदृढ़ और स्वतंत्र है कि वह जीव के जीवन के प्रत्येक पहलू का निर्माण स्वयं कर लेता है[२९] इसीलिए संभवतः जैनाचार्यों ने कर्मनियामक ईश्वर की आवश्यकता नहीं अनुभव की। अपने पुरुषार्थ और अनन्तवीर्य के कारण कर्म-शक्ति को छिन्न-भिन्नकर प्रत्येक संसारी जीव आराध्य एवं श्रद्धेय बन सकता है। जैन धर्मानुयायी जिनों एवं सिद्धों की पूजा करते हैं और उन्हें आदर्श मानकर उनके समान बनने का प्रयास करते हैं। इनके सिद्धांतों की दृष्टि से देखा जाए तो सिद्ध रागद्वेष रहित होने से पूजा-श्रद्धा का प्रतिफल स्वयं नहीं दे सकते हैं। इस प्रसंग में प्रो० मूर्ति लिखते हैं कि यद्यपि वास्तविक तथ्य तो यही है किन्तु अनेक जैन विचारकों ने महावीर को धार्मिक आस्था और रहस्यपूर्ण भक्ति का विषय बनाते हुए उनके लिए ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जैसे वेदान्ती ब्रह्म के लिए करते हैं।[३०]

अपने मत की पुष्टि में वह सिद्धसेन दिवाकर और आचार्य हेमचन्द्र के मतों का उदाहरण देते हैं जैसे महावीर की तुलना सारी नदियों के संगम रूप समुद्र से की गयी है। उसे आत्मस्वरूप मानकर प्रार्थना की गयी है कि वह अवर्णनीय, भावनागोचर और इन्द्रियातीत है। सागर, अवर्णनीय जैसे शब्द इस भ्रम के कारण हैं। सम्भवतः ईश्वर की तरह पूज्य मानने के कारण जैनाचार्यों ने ऐसे शब्दों का प्रयोग किया हो किन्तु जहां तक वेदान्त के ब्रह्म के समान मानने का प्रश्न है, जैन सिद्धांतों के परिप्रेक्ष्य में ऐसा कदापि सम्भव नहीं है[३१] वैसे तो सभी अर्हत् या जिन एक ही स्थिति के होते हैं किन्तु तत्त्वोपदेष्टा अर्हत् (तीर्थंकर) अन्य प्राणियों के हितार्थ उन्हें तत्त्वों की यथार्थता, अहिंसा, समभाव इत्यादि का उपदेश देते हैं। जीवित दशा में अर्हतत्व और मरने के बाद सिद्धत्व परमपद है।[३२]

इस प्रकार न्याय-वैशेषिक, योग और जैन दर्शनों में ईश्वर मान्य हैं किन्तु तीनों

दर्शनों द्वारा स्वीकृत ईश्वर के स्वरूप और कार्य में बहुत अन्तर है। न्याय-वैशेषिक और सेश्वर सांख्य के ईश्वर एक, सर्वज्ञ, विभु, अगोचर, वेदनिर्माता, नित्य, अनादि मुक्त, शुभाशुभ कर्मों के निष्पक्ष दाता, रागद्वेष रहित और अनुग्रही हैं। न्याय-वैशेषिक के समान पातञ्जल योग १।२४ में भी ईश्वर को पुरुष विशेष अथवा आत्मा विशेष कहा गया है किन्तु पुरुषतत्त्व में उसका अन्तर्भाव नहीं किया है। ईश्वर दो नहीं हो सकते क्योंकि समान गुण-शक्ति वाले दो ईश्वरों के होने पर पदार्थ के एक की इच्छा के अनुरूप परिणत होने से दूसरे की इच्छा पूरी न होने से उसमें कमी आ जाएगी। जहां तक जैनमत का प्रश्न है ईश्वरवादियों (न्याय-वैशेषिक एवं योग) के समान कर्म-नियामक जगत्कर्ता, परमाणु स्पन्दन कराने वाले अथवा प्रकृति-पुरुष का संयोग कराने वाले, अनुग्रही आदि गुणों वाले ईश्वर को न मानने से उनके यहां ईश्वरों के मतभेद की सम्भावना ही नहीं है। अन्य दर्शनों के ईश्वर कभी बन्धगत नहीं होते किन्तु अर्हत् या सिद्ध कर्मबन्धों से युक्त होने के बाद मुक्त होते हैं। संसार के नित्य होने से और कर्म परम्परा के आत्म निर्भर होने से वे न जगत्कर्ता हैं न कर्मफलदाता। अनीश्वर-वादियों ने ईश्वरवादी विचारों का खण्डन किया है। वे कहते हैं कि संसार का नियामक परमात्मा इन्द्रियों से नहीं दिखायी देता।

इसकी सिद्धि के लिए दिया गया अनुमान प्रमाण ठोस नहीं होने से व्यर्थ हैं। हम घड़े के रचियता कुम्भकार को प्रत्यक्ष देख सकते हैं किन्तु पृथिव्यादि के निर्माता ईश्वर को नहीं। आगम प्रमाण के सम्बन्ध में इनका कहना है कि हिंसा का विधान करने वाले वेद के शब्द प्रामाणिक नहीं माने जा सकते। अनीश्वदवादी की आपत्ति का उल्लेख करते हुए डॉ० राधाकृष्णन लिखते हैं कि यदि ईश्वर संसार का रचयिता है तो उसने दुःख न देकर सुखी संसार ही बनाना था। स्वकर्मवश सुख-दुःख पाने से स्पष्टतः कर्मण्यवस्था स्वतन्त्र हो जाती है। सर्वशक्तिमान के कर्मण्यवस्था में हस्तक्षेप या परिवर्तन न कर सकने से ऐसे ईश्वर की आवश्यकता क्या है? वह जीवों की बाधा कैसे दूर कर सकता है? दयालु परमेश्वर को अपने मनोरंजन के लिए तो दुःखमूलक संसार की रचना नहीं करनी चाहिए।[33] न्याय-वैशेषिक सम्मत ईश्वर के विषय में अनीश्वरवादी तर्क देते हैं कि चेतना परमात्मा की इच्छा से अचेतन परमाणु में स्पन्दन असम्भव है। अतः संसार ईश्वर की कृति न होकर नित्य है। मुक्तात्मा का पृथक् अस्तित्व (न कि अद्वैत वेदान्त के समान एक ब्रह्म में लय) स्वीकार करने वाले न्याय-वैशेषिक एवं योग में जैनों के समान उनमें ईश्वरत्व नहीं माना जाता। न्याय-वैशेषिक के मुक्तात्मा योग एवं जैन मतों के विपरीत चैतन्य शून्य या ज्ञानरहित ही हो जाते हैं।[34] जैन दर्शन में अपना-अपना पृथक् अस्तित्व रखने वाले मुक्त जीव परमात्मा हैं। जैन मत की मौलिकता है कि प्रत्येक आत्मा कृतकर्मों का विनाश कर परमात्मा बन सकता है। एक तरह से अद्वैत वेदान्त में भी जीव मुक्त होकर ब्रह्म या परमात्मा हो जाते है किन्तु वे पृथक् अस्तित्व वाले न होकर एक सत्ता के अंश अर्थात् ब्रह्ममय हो जाते हैं।[35] जैन विचारानुसार वेदों का रचयिता, संसार और जीवों का शासक, नियामक, कर्मफलदाता, निमित्त एवं उपादानकारण रूप ईश्वर नामक कोई तत्त्व नहीं

है, न चार्वाकों की दृष्टि के अनुसार पृथ्वी के राजा को परमेश्वर कहा जा सकता है। वह भी पूर्व में कर्मबन्धगत और संसारी ही होता है।

इस तरह तीनों मतों में बड़ा अन्तर है। साथ ही कुछ साम्य भी हैं। तीनों दर्शनों में ईश्वर नित्य, चैतन्ययुक्त, क्लेशों से रहित, मुक्त (चाहे नित्यमुक्त हों या बाद में मुक्त हुए हों) एवं पूज्य हैं। ईश्वरवादियों की दृष्टि में ईश्वर की सत्ता जितनी असंदिग्ध है उतनी ही अनीश्वरवादियों की दृष्टि में विवादास्पद। वस्तुतः उपर्युक्त विचारधाराओं के मतभेद संसार की नित्यता, अनित्यता, सृष्टिकर्ता एवं कर्म सिद्धान्त की स्वतंत्रता से सम्बद्ध हैं।

उपर्युक्त विवेचन के निष्कर्ष स्वरूप कहा जा सकता है कि वस्तुतः ईश्वर अनुभूति, भावना, विश्वास और श्रद्धा जैसे पवित्र भावों के दायरे में आता है। इन विचारों से उसकी सत्ता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यदि ईश्वर है तो भी और नहीं है तो भी। दार्शनिक मतभेद तो अपने-अपने विचारों, तर्कों और सिद्धांतों पर आधारित हैं। ईश्वर की सार्वभौमिक सत्ता के विषय में मतान्तर होते हुए भी ध्यातव्य है कि किसी न किसी रूप में ईश्वर को न्याय-वैशेषिक, सेश्वर सांख्य और जैन तीनों स्वीकार करते हैं। ईश्वर अथवा ईश्वरों की भूमिका सैद्धान्तिक दृष्टि से ही नहीं मानसिक, भावनात्मक एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। शुभंकारी शक्ति के अस्तित्व की अनुभूति और विश्वास से तनाव, दुःख, विपत्ति, सब ओर से निराशा-असफलता के क्षणों में व्यक्ति को एक अव्यक्त सम्बल-सा मिलता है। इसीलिए सम्भवतः सभी धर्मों में पूजा, अर्चना, मन तन की शुद्धि पर बल दिया गया है। आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक कष्टों, मृत्यु, प्राकृतिक आपदाओं जैसे घटनाओं से मुक्ति के संदर्भ में जीवों की वर्तमानकालीन क्षमता बहुत सीमित होती है भले ही वह उसके किसी जन्मों के कर्मफल हों।

उपर्युक्त तीनों दर्शनधाराओं के ईश्वर के सम्बन्ध में साम्य-वैषम्य से स्पष्ट है कि जैनमत में प्रत्येक जीव को परमात्मा बनने की सुविधा हैं अन्यत्र एक सर्वशक्तिमान ईश्वर के होने से ऐसा सम्भव नहीं है। ब्रह्माण्ड अतीव रहस्यमय है और ईश्वर जैसी दैवी शक्तियों का अस्तित्व, चाहे वे किसी भी दर्शन के दृष्टिकोण से हों, निश्चित रूप से असंदिग्ध है।

संदर्भ

१. लोकसिद्धो भवेद्राजा परेशो नापरः स्मृतः।—सर्वदर्शन संग्रह
२. भारतीय दर्शन, बलदेव उपाध्याय, पृ० ३०९
३. वाक्यपदीप, १।१,४
४. तैतिरीयोपनिषद् ३।१।१, ब्रह्मसूत्र-१।१।२, वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली श्लोक २२
५. मुण्डकोपनिषद् १।१।७, विवेकचूड़ामणि श्लोक ११०, शारीरिक भाष्य १।४।३
६. श्रीभाष्य, पृ० ८०
७. The Six Systems of Indion Philosophy, P. 449
८. (क) E. Caird, the Critical Philosphy of Cant, Vol, II, Chapter-3

(ख) Outlines of a Philosphy of Religion, Chapter I

९. (क) न्यायकुसुमाञ्जलि-५।१, गीता-१८।६१, वैशेषिक सूत्र-१।१।३

(ख) A History of Indion Philosophy, Vot, I, 326

१०. पुरुषो यं समीहमनो नावश्यं समीहाफलं प्राप्नोति तेनानुमीयते पराधीनं पुरुषस्य कर्मफलाराधनामिति, यदधीनं स ईश्वरः। न्यायसूत्र-४।१।१९ पर भाष्य।

११. A History of Indian Philosohy, Dasgupta Vol, Ia P, 326

१२. नूतनजलधररुचये गोपवधूटीदुकूल चौराय।
तस्मै कृष्णाय नमः संसारमहीरुहस्य बीजाय॥ न्यायकारिकावली, १,प्रत्यक्ष खण्ड

१३. ओं नमः सर्वभूतानि विष्टभ्य परितिष्ठते।
अखण्डानन्दबोधाय पूर्णाय परमात्मने॥ अनुमान खण्ड—नागेश की तत्त्व चिन्तामणि पर "दीधिति" नामक व्याख्या।

१४. (क) ज्ञानसुखेच्छा प्रयत्नादीनां ईश्वरगुणानां च नित्यत्वमंगीकृतं नैयायिकैः —न्यायमञ्जरी, पृ० सं० १८४-१

(ख) नित्यं ज्ञानाधिकरणत्वं नित्यप्रयत्नाधिकरणत्वं च ईश्वरत्वमिति।—तर्कदीपिका, पृ० १८९

१५. वेदस्य पुरुषकर्ता न हि यादृशतादृशः किन्तु त्रैलोक्यनिर्माणनिपुणः परमेश्वरः स देवः परमोज्ञाता नित्यानन्दः कृपान्वितः क्लेशकर्म विपाकादिपरामर्शविवर्जितः। —न्यायमञ्जरी, पृ० १७५

१६. स्वरशरीर प्रेरणसामर्थ्य दृश्यते तथा ईश्वरस्यापि इच्छामात्रेण जगत्कर्तृत्वा दिसम्भवात्। —न्यायमञ्जरी, पृ० १८५

१७. स्वर्गापवर्गयोर्मार्गमामनन्ति मनीषिणः।
यदुपास्तिमसावत्र परमात्मा निरुप्यते॥ —न्यायकुसुमाञ्जलि १।२

१८. (क) आत्मसमवायादम्त्मगुणेषु। —वैशेषिक सूत्र ९।१।१५

(ख) तदेव क्षीणदोषाणां ध्यानावहितचेतसाम्।
निर्मलं सर्वविषयं ज्ञानं भवति योगिनाम्॥ —न्यायमञ्जरी ९८

१९. यथा मुक्तस्य पूर्वा बन्धकोटिः प्रज्ञायते नैवमीश्वरस्य, यथा वा प्रकृति लीनस्य उत्तरा बन्धकोटिः सम्भाव्यते नैवमीश्वरस्य, स तु सदैव ईश्वरः।—योगभाष्य, १।२४

२०. योगसूत्र १।२४, २५, व्यास भाष्य यो० स० १।२५ पर

२१. पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्। योगसूत्र १।२६

२२. (क) तस्य वाचकः प्रवणः। योगसूत्र १।२७

(ख) तज्जपस्तदर्थभावनम्। वही १।२८

(ग) प्रणवस्य जपः प्रणवाभिधेयस्य चेश्वरस्य भावनम्। व्यास भाष्य, पृ० ८४

२३. (क) ईश्वरप्राणिधानाद्वा। योगसूत्र १।२३

(ख) ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तराभावश्च। वही, १।२९

(ग) ईश्वरप्राणिधानं, सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणं तत्फलसन्यासो वा।—व्यासभाष्य, पृ० १३६।

२४. तत्त्ववैशारदी पृ० ३९९, योगवार्त्तिक पृ० ४००, भोजवृत्ति पृ० ६८

२५. (क) तथा हि कश्चिदात्मा सकलपदार्थसाक्षात्कारि तद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीण-प्रतिबन्धप्रत्ययत्वात् । यद्यद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्ध प्रत्ययं तत्तत्साक्षात्कारि । सर्वदर्शनसंग्रह (अर्हत् दर्शन) ।

(ख) The Soul which has perfect Perception, perfect knowledge infinite bliss and infinite Power, is a Perfect Saint and having Perfect enlightenment, is known as Jine-deva or tne divine Conqueror.

—Pratama Prakasa by yogindra Acarya, 330 (quoted by J. Jaini, Outlines of Jainism, p. 78)

२६. विल्लृ व्याप्तौ (तुo उo अo), नामलिङ्गानुशासनम् अमरकोष १।१।१०

२७. ये त्रिकालज्ञ होने से सर्वज्ञ, पूज्य होने से अर्हत्, मननशील स्वभाववश मुनि, कामादि, दोषजय से जिन, आगमोपदेशक होने से तीर्थंकर, केवलज्ञान होने से केवली, शुद्ध चैतन्य के ऐश्वर्य से ईश्वर, परमकल्याणकारी निर्वाण प्राप्ति से शिव कहे जाते हैं—शिवं परमकल्याणं निर्वाणं ज्ञानमक्षयम् ।

प्राप्तं मुक्तिपदं येन स शिवः परिकीर्तितः ।।

—बृहद्द्रव्य संग्रह परब्रह्मदेवकृत संस्कृतटीका ।

२९. तत्त्वार्थ सूत्र १।४

२९. (क) Outlines of Indian Philosophy, Hiriyanna, P. 167

(ख) तत्त्वार्थसूत्र ८।५

३०. Sad Darshan Samuccaya, Translation and notes on karika 48

३१. (क) All Points of view, O lord, arise from you , even as all rivers do in the ocean. but you are not seen in any of them, even as the Ocean is not to be seen in any of the rivers and lakes after they are separated. —S. Divakar

(ख) I bring within the focus of my Prayer him who is called vardhamana who is unattainable by the knowers of the spirit. Who is indescribale by rhetoricians and who imperceptible even to those who have eyes. —Hemcandra, Ayogavacche dika, I (P. 62)

३२. Arhatship in life and Siddhi after death is the higest end. This is attained by annilation of the karmas. An Arhat is omniscient perfect and endowed with supernatural Powers. After death he becomes a sidddha. —Sad Darshan Samuccapa (Commentary of Prof. Murty)

३३. Indian Philosophy, II, P. 425-426

३४. (क) भारतीय दर्शन, बलदेव उपाध्याय, पृ० २०९
(ख) स्वरूपैकप्रतिष्ठानः परित्यक्तोऽखिलैर्गुणैः ।
उर्मिषट्कातिगं रूपं तदस्याहुर्मनीषिणः ।।
संसारबन्धनाधीनदुःखक्लेशाद्यदूषितम् ।। न्यायमञ्जरी पृ० ७७
३५. (क) अहं ब्रह्मास्मि-बृहदारण्यकोपनिषद् १।४।१०
(ख) माण्डूक्योपनिषद्-२, छान्दोग्योपनिषद् ६।८।७
(ग) वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली-श्लोक २२

"अक्षपादप्रणीते च काणादे सांख्ययोगयोः ।
त्याज्यः श्रुतिविरुद्धोंऽशः श्रुत्येकशरणैर्नृभिः ।।
जैमिनीये च वैयासे विरुद्धांशो न कश्चन ।
श्रुत्या वेदार्थविज्ञाने श्रुति पारंगतौ हि तौ ।।"

स्याद्वाद : आधुनिक परिप्रेक्ष्य में

☐ समणी स्थितप्रज्ञा

भारतीय मनीषा ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर की सहजात प्रतिभा से निसृत मधुमय-आनन्द-धाम का नाम है—स्याद्वाद। जहां दो विपरीत दिशाओं में बहने वाली एवं परस्पर विरुद्ध विचारधाराएं आकर परम विश्रान्ति को प्राप्त करती हैं। आधुनिक समन्वयवाद का प्राचीन निदर्शन स्याद्वाद है।

स्याद्वाद दो शब्दों के मेल से बना है :—स्यात् और वाद। स्यात् शब्द के अनेक अर्थ मिलते हैं। स्यात् शब्द दो हैं। एक क्रियावाचक एवं दूसरा अनेकान्तवाचक। स्याद्वाद का स्यात् शब्द 'सर्वथा' नियम को छोड़कर सर्वत्र अर्थ की प्ररूपणा करने वाला है, क्योंकि वह प्रमाण का अनुसरण करता है।[1] श्लोक वार्तिक के अनुसार : 'स्यादिति निपातोऽयमनेकान्तविधि विचारादिषु बहुष्वर्थेषु वर्तते।'[2] अर्थात् स्यात् तिङन्त प्रतिरूपक निपात, अनेकान्त विधि, विचार और विद्या आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है। श्री देवसेनाचार्य ने 'जो नियम को निषेध करने वाला है, निपात से जिसकी सिद्धि होती है जो सापेक्षता की सिद्धि करता है' उसे स्यात् शब्द कहा है।[3] सर्वथा रूप से सत् ही है, असत् ही है—इत्यादि विचारों का त्यागी और यथादृष्ट को—'जिस प्रकार वस्तु प्रमाण-प्रतिपन्न है उसको अपेक्षा में रखने वाला 'स्यात्' शब्द कहा गया है। सप्तभंगी-तरंगिनी में कहा गया है कि 'यद्यपि अनेकान्त, विधि, विचार आदि अनेक अर्थ स्यात् के होते हैं लेकिन प्रस्तुत प्रसंग में अनेकान्त अर्थ ही ग्राह्य है।[4]

'उत्पाद्येत, उत्पाद्यते येनासौ वादः' अर्थात् जिसके द्वारा प्रतिपादन किया जाए वह वाद है। वदना, वाद करना, जल्प करना, कहना, प्रतिपादन करना आदि वाद शब्द के अर्थ हैं—वदनं वादो जल्पःकथनं प्रतिपादनमिति।[5]

इस प्रकार अनेकान्त रूप से कथन करना स्याद्वाद है। कथंचित् विवक्षित प्रकार से अनेकान्त रूप से प्रतिपादन करना स्याद्वाद का अभिधेय है। विभिन्न दृष्टिकोणों से वर्णनीय का वर्णन करना स्याद्वाद कहा जाता है। इसमें ऐकान्तिक दृष्टि का सर्वथा अभाव होता है। 'अनेकान्तात्मकार्थ कथनं स्याद्वादः' अर्थात् अनेकान्तात्मक वस्तु के प्रतिपादक कथन को स्याद्वाद कहते हैं। 'स्यादिति वादो वाचकः शब्दो यस्यानेकान्त-वादस्यादौ स्याद्वादः' अर्थात स्याद्वाद का अर्थ है वह वाद जिसका वाचक शब्द स्यात् अर्थात् अनेकान्तवाद हो। हम प्रत्येक वस्तु को प्रतिक्षण उत्पन्न होते और नष्ट होते हुए देखते हैं, और साथ ही इस वस्तु के नित्यत्व का भी अनुभव करते हैं; अतएव प्रत्येक पदार्थ किसी अपेक्षा से नित्य और सत् और किसी अपेक्षा से अनित्य और असत् आदि

अनेक धर्मों से युक्त है।

अनेकान्तवाद या स्याद्वाद का स्वरूप प्राचीन आगमों में भी मिलता है। गणधर गौतम ज्ञातपुत्र महावीर से पूछते हैं। भंते! आत्माज्ञानस्वरूप है या अज्ञानस्वरूप। महावीर उत्तर देते हैं—आत्मा नियम से ज्ञानस्वरूप है क्योंकि ज्ञान के बिना आत्मा की वृत्ति नहीं देखी जाती है। परन्तु आत्मा ज्ञान रूप भी है, अज्ञान रूप भी है :—"गोदमा णाणे नियमा अतो ज्ञानं नियमादात्मनि।"[६] ज्ञात धर्म कथा एवं भगवती सूत्र में स्याद्वाद का विवेचन किया गया है। वस्तु को द्रव्य की अपेक्षा एक, ज्ञान और दर्शन की अपेक्षा अनेक, किसी अपेक्षा से अस्ति, किसी से नास्ति और किसी अपेक्षा से अवक्तव्य कहा है। भगवती में भगवान् का वचन है :—

गोयमा, रयणप्पमा सिय आया, सिय नो आया।
सिय अवत्तव्वं आया तिय नो आया तिय॥[७]

सप्तभंगी और स्याद्वाद

प्रश्न के अनुसार एक वस्तु में प्रमाण से अविरुद्ध विधिप्रतिषेध धर्मों की कल्पना सप्तभंगी है—एकस्मिन् वस्तुनि प्रश्नवशाद् दृष्टेनेष्टेन च प्रमाणेनाविरूद्धा विधिप्रतिषेध विकल्पना सप्तभंगी विज्ञेया।[८] स्याद्वाद में सप्तभंग होते हैं :—स्यात् अस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्तिनास्ति, स्यात् अवक्तव्य, स्यादस्ति अवक्तव्य, स्यान्नास्ति अवक्तव्य और स्यादस्तिनास्ति अवक्तव्य।

स्याद्वाद के सात भंगों का नामोल्लेख सर्वप्रथम आचार्य कुंदकुंद के 'पंचास्तिकाय' एवं 'प्रवचनसार' में मिलता है।[९] इसके पूर्व सप्तभंगी नयवाद के रूप में या अधिक से अधिक स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादवक्तव्य इन तीन मूल भंगों के रूप में पाया जाता है। स्याद्वाद को विकसित करने वाले आचार्यों में चतुर्थ शताब्दी के विद्वान् सिद्धसेन दिवाकर और समन्तभद्र का नाम सबसे महत्त्वपूर्ण है।

स्याद्वाद—जैनेतर दर्शन की दृष्टि में

सर्वप्रथम विश्व के आद्यग्रंथ ऋग्वेद के 'नासदीय सूक्त' में स्याद्वाद जैसी अवधारणा मिलती है। ऋग्वेद का ऋषि कहता है :—'नासदासीन्न सदासीत्तदानीम्।'[१०] अर्थात् उस समय सत् भी नहीं था और असत् भी नहीं था। अनेक उपनिषदों में भी इस तरह का सिद्धांत मिलता है। ईशावास्योपनिषद् में ऋषि कहता है—'तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तदन्तिके च'।[११] अर्थात् 'वह चलता है, नहीं भी चलता है, वह दूर है वह नजदीक भी है।' कठोपनिषद् में एक सूक्ति है—'अणोऽणीयान् महतो महीयान्।'[१२] अर्थात् वह सूक्ष्म से सूक्ष्म और महान् से महान् है। प्रश्नोपनिषद् में—'सदसच्चामृतं च यत्।'[१३] वह सत् असत् और अमृत स्वरूप वेदान्त प्रतिपादित ब्रह्म विविध विरोधी गुणों का आश्रय है।

अन्य भारतीय दार्शनिकों ने भी इस प्रकार के विचार अभिव्यक्त किए हैं। वेदान्त का अनिर्वचनीयवाद[१४], कुमारिल का सापेक्षवाद, बौद्धों का मध्यम मार्ग आदि स्याद्वाद के समतुल्य विचारों का प्रतिपादन करते हैं।[१५] बौद्ध दर्शन के उदानसुत्त में

एक मृत हाथी की कथा से स्याद्वाद के जैसे सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है।

पाश्चात्य दार्शनिकों में एम्पीडोक्लीज, एटोमिस्ट्स और अनैक्सागोरस आदि दार्शनिकों ने इलियटिक्स के नित्यत्ववाद और हैरेक्लिटस के क्षणिकवाद को समन्वित किया है। उनके अनुसार पदार्थ अपनी नित्यदशा में रहते हुए भी अपेक्षानुसार परिवर्तन को प्राप्त होते रहते हैं।[१६] 'डाइलॉग्स ऑफ प्लेटो' मेंप्लेटो इसी प्रकार का विचार प्रकट करता है :—

"When we speak of not being, we speak, I supposed not of something opposed to being but only different

आधुनिक विचारकों में हेगेल संसार के मूल में विरुद्धधर्मात्मकता को स्वीकार करता है।[१७] ब्रैडले ने कहा है कि प्रत्येक वस्तु दूसरी वस्तुओं से तुलना किए जाने पर आवश्यक और अनावश्यक दोनों सिद्ध होती हैं।[१८]

संसार के अनेक मनोवैज्ञानिकों ने भी स्याद्वाद के समतुल्य विचार व्यक्त किए हैं। प्रसिद्ध मानवशास्त्री विलियम जेम्स ने लिखा है कि 'हमारी अनेक दुनिया हैं। साधारण मनुष्य इन सब दुनियाओं का एक दूसरे से असम्बद्ध तथा अनपेक्षित रूप से ज्ञान करता है। पूर्ण तत्त्व वेत्ता वही है जो सम्पूर्ण दुनिया को एक दूसरे से सम्बद्ध और अपेक्षित रूप में जानता है।[१९] एक अन्य पश्चात्य विचारक का मत है :—यह पूर्णतया मूर्खता का द्योतक है कि अमुक गति तीव्र है या धीमी। सत्य के नजदीक वही पहुंच सकता है जो प्रत्येक गति को तीव्र और धीमी स्वीकार करें।[२०]

It would be nonsense to say that every movement is either swift or slow. It would be nearer the truth to say that every movement is both swift and slow.

इस प्रकार उपरोक्त विचारों से स्पष्ट होता है कि जैनेतर पाश्चात्य और पौर्वात्य दोनों मनीषियों ने वस्तु की विरुद्ध धर्मात्मकता को स्वीकार किया है और यही स्याद्वाद का मूल है।

स्याद्वाद का समन्वय दर्शन

स्याद्वाद एक ऐसा सिद्धान्त है जहां समस्त विरोधी विचार परस्पर सापेक्ष हो जाते हैं। जैनाचार्यों का कथन है कि सम्पूर्ण दर्शन स्याद्वाद में अन्तर्निविष्ट हो जाते हैं। जिनमति स्तुति में कहा गया है :—

बौद्धानाम् ऋजुसूत्रतो मतममूद्वेदान्तिनां संग्रहात्।
सांख्यानां तत एव नैगमनयात् योगश्च वैशेषिकः॥
शब्द ब्रह्म विदोऽपि शब्दनयतः सर्वेनयैर्गुम्फिताम्।
जैनी दृष्टिरितीह सारतरता प्रत्यक्षमुद्वीक्ष्यते॥[२१]

अर्थात् ऋजुनय की अपेक्षा बौद्ध, संग्रहनय की दृष्टि से वेदान्त, नैगमनय के अनुसार न्याय-वैशेषिक, शब्दनय की अपेक्षा शब्द ब्रह्मवादी तथा व्यवहारनय की अपेक्षा से चार्वाकादि दर्शनों को सत्य कहा जाता है। इस प्रकार समस्त दर्शन परस्पर विरुद्ध होते हुए भी नयों की दृष्टि में समुचित रूप से सम्यक्त्व रूप कहे गए हैं। इसलिए जैन

विद्वानों ने जिणवाणी को 'मध्यादर्शनों का समूह कहा' है। उपाध्याय यशोविजयजी की दृष्टि में "सच्चा अनेकांतवादी वही होगा जो किसी दर्शन से विद्वेष नहीं करता। वह सम्पूर्ण नयरूप दर्शनों को वात्सल्यभाव से देखता है जैसे पिता अपने पुत्रों को। अध्यात्म सार के अनुसार—

यस्य सर्वत्र समता नयेषु तनयेष्विव।
तस्यानेकान्तवादस्य क्व न्यूनाधिक शेमुषी॥
तेन स्याद्वादमातथ्य सर्वदर्शनतुल्यतां।
मोक्षोद्देशाविशेषेण यः पश्यन्ति स शास्त्रवित्॥[22]

वस्तुतः किसी में विरोध नहीं है। सभी का गन्तव्य एक ही है। राष्ट्रकवि बच्चन के अनुसार—

'घर से निकला है मदिरालय जाने को पीनेवाला।
किस पथ से जाऊं असमन्जस में है वह भोला-भाला॥
अलग-अलग सब पथ बतलाते, पर यह मैं बतलाता हूं।
एक राह तू पकड़ चला जा मिल जाएगी मधुशाला॥[23]

स्याद्वाद का यही प्राण है। प्रत्येक दार्शनिक अवस्था एवं काल भेद से सत्य का अंश मात्र ग्रहण करता है। आचार्य हरिभद्र ने कहा है—

श्रोतव्यः सौगतो धर्मः कर्त्तव्यः पुनरार्हतः।
वैदिको व्यवहर्तव्यो ध्यातव्यः परमः शिवः॥

अर्थात् वैदिक व्यवहार-प्रधान, सौगत (बौद्ध) श्रवणप्रधान और आर्हत कर्तव्य-प्रधान है। सबका ध्यातव्य परमशिव हैं। आचार्य पुष्पदन्त ने कहा है कि मनुष्यों का एक मात्र प्राप्तव्य मोक्ष ही होता है जैसे सम्पूर्ण नदियां समुद्र को ही प्राप्त होती है। **नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥**

आज के सन्दर्भ में स्याद्वाद

स्याद्वाद जैन दर्शन का प्राण तो है ही आज के अराजक विश्व के लिए संजीवनी के समान भी है। इसी को आधार मान कर जैन दर्शन या भारतीय प्रज्ञा के धनी आचार्य लोग संसार के झगड़ों को निपटा सकते हैं। स्याद्वाद के मूर्त्त-विग्रह के रूप में आचार्य श्री तुलसी को आज सम्पूर्ण संसार जान रहा है। उन्होंने संसार की समस्याओं को निपटाने का प्रयास किया है। साथ ही सभी धर्मों के प्रति समभाव रखने की प्रेरणा भी दी है।

दुनिया के सभी झगड़ों का कारण एकान्तवाद है। क्रोधावस्था में हमारी दृष्टि क्रोध-पात्र के दुर्गुणों या दोषों के ऊपर जाती है। उसके गुणों को नहीं देखती; इसलिए विरोध बढ़ता है जबकि संसार में एक भी ऐसा प्राणी नहीं है जो सर्वथा गुणहीन हो। यदि दोष के बदले उसके गुणों पर ध्यान दिया जाए तो आसन्न विवाद सद्यः समाप्त हो सकता है। इसी प्रकार प्रिय वस्तु या पात्र के केवल गुण ही गुण दिखाई देते हैं। उसके दोष नहीं दीखते।

इस प्रकार आग्रहवादिता और अहंवृत्ति से उपजी और अनसुलझी उपरोक्त

समस्याओं का समाधान स्याद्वाद में खोजा जा सकता है। स्याद्वाद किसी भी समस्या का समाधान एकान्तिक नहीं अपितु सापेक्षवाद के आधार पर प्रस्तुत करता है। जैसे पुत्र के मन में आया, मुझे अपने पिता से अलग रहना है और उसने पिता से कहा—पिताजी ! इतने दिनों तक मैं आपके साथ भोजन करता रहा, अब मैं आपके साथ भोजन नहीं करूंगा। पिता अनेकान्त का ज्ञाता था, उसने कहा—पुत्र ! कोई बात नहीं है, इतने दिनों तक तुमने मेरे साथ भोजन किया, आज से मैं तुम्हारे साथ भोजन किया करूंगा। पुत्र, पिता के सामने नतमस्तक हो गया। समस्या बनी और समाधान हो गया। इसी प्रकार स्याद्वाद को समझने वाला व्यक्ति समस्याओं में उलझता नहीं, अपितु सरलता से समस्या को सुलझाने में सफल हो जाता है।

स्याद्वाद अहिंसा की आधारभूमि भी है। आधुनिक काल में जितनी हिंसा की घटनाएं घटती हैं, उन सबके मूल में एकान्तभावना है। आचार्य आनन्दशंकर बापूभाई ध्रुव ने कहा था कि स्याद्वाद का सिद्धांत बौद्धिक अहिंसा है। अर्थात् बुद्धि या विचारों से किसी को बुरा न कहना। यदि बुद्धि का बैर समाप्त हो जाता है तो हिंसा भी समाप्त हो जाती है। पंजाब कश्मीर, आसाम, बिहार के वासियों में यदि इस तरह की भावना का प्रसार किया जाए तो अवश्य ही हिंसा-निवारण में सफलता मिलेगी।

राष्ट्र की एकता एवं अखण्डता की रक्षा में भी स्याद्वाद की महत्त्वपूर्ण भूमिका हो सकती है। आवश्यकता यह है कि विघटक तत्त्वों को स्याद्वाद की शिक्षा दी जाए। उन्हें बताया जाए कि जैसे तुम ठीक हो, वैसे ही दूसरे भी ठीक हैं। हम सब सही हैं और सबको साथ रहना है। इसलिए राष्ट्र की एकता और अखण्डता जरूरी है। □

संदर्भ :

१. धवला १२.४.२.९.२.२९५.१०
२. श्लोकवार्तिक— २.१.६.५५.४५६
३. नयचन्द्र बृहद् गाथा सं० २५
४. सप्तभंगी तरंगिनी ३०।१
५. समयसार, ता. वृ. स्यावादाधिकार ५.३.१७
६. नय चक्र, हस्तलिखित, जैन साहित्य संशोधक १.४ पृ० १४६
७. भगवती सूत्र १२.१० पृ० ५९२
८. राजवार्तिक १.६.३३.१५
९. पंचास्तिकाय १४, प्रवचनसार ११५
१०. ऋग्वेद १०, १२१
११. ईशावारस्योपनिषद् ५
१२. कठोपनिषद् २, २०
१३. प्रश्नोपनिषद् २, ५

१४. प्रो० ध्रुव० स्याद्वादमञ्जरी, प्रस्तावना पृ० १२
१५. षड्दर्शनसमुच्चय, गुणरत्न टीका पृ० ९६-९८
१६. शिली, हिस्ट्री ऑ फिलॉसॉफी पृ० ३२
१७. तत्रैव पृ० ४६७
१८. अपीयरेन्स ऑफ रियलटी पृ० ४८७
१९. द प्रिंसिपल्स ऑफ सायक्लॉजी १.२०.२९१
२०. इन द क्वेस्ट ऑफ आइडियल पृ० २१
२१. अध्यात्मसार, जिनमति स्तुति
२२. तत्रैव ६१.७०
२३. मधुशाला
२४. शिवमहिम्न स्तोत्र ७

□

अस्तीति नास्तीति उभेपि अन्ता
शुद्धी अशुद्धीति इमेपि अन्ता ।
तस्मादुभे अन्त विवर्जयित्वा
मध्ये हि स्थानं प्रकरोति पण्डितः ।।

—समाधिराज सूत्र

TULSI
PRAJNA

COPPER HOARD-AN UNPUBLISHED FIND FROM CHITHWARI, CHOMU (JAIPUR)

❑ *Shri Harphool Singh*

As a matter of fact findings are not rare in the field of Archaeology. Copper mines of Khetri (Jhunjhunu) and copper fields in Dariba (Churu) & some places of Nagaur district are welknown. In the preceding ten years the findings of copper axes from Ganeshawar; Neemkathana (Sikar) and Mallah (Bharatpur) copper hoard from Rajasthan have created a keen interest among the archaeologists.

At Ganeshwar, there is a homogeneous culture site of international stature in human anthropology. It has yielded a lot of copper antiquities. A large number of which consist of arrow heads. Some of these antiquities have been found from surface and others as a result of excavations. These objects have been dated as back as the first quarter of 3rd Millenium B. C.

Mallah is a village near Bharatpur. As the name itself proves the village had been inhabited by sailors. The Mallah copper Hoard came into notice during land digging by some people; towards the western side of the village, near the Dalmiya Dairy. Among the artifacts of the Hoard, harpoons are important for studying their particular shapes.

Chithwari Copper Hoard

It was January 14th, 1986 when the chithwari copper Hoard came into notice. The mud walls were being made along both sides of the way to chaunpa village during famine works. The mud wall work had started from the Dhani of Hanuman Jat. These were made up to the distance of four-five furlongs. It was a great pleasure when I visited the site of chithwari copper Hoard on 30th June, 87, and came to know that the place situated on the left bank of the Bandi river, 12kms, away from Chomu is a prominent O.C.P. site. It is strewn over the area of two-three bighas. This copper Hoard was found in middle of the right channel of the mud wall of the way leading to chaunpa village. Nature of the soil is compact. Apparently the habitation deposit seems hear about one metre thick. The copper Hoard implements have been found stored in a O. C. P. ware. But unfortunately the earthen ware had broken into pieces during digging. Pot-sherds collected from the surface do not have any

appearance either of painting or incised designs while the potteries from Ganeshwar have both the characteristics. Oftenly the section of the potsherds is thick and sturdy. Some of the specimens are Ochre colour washed, with greish section. The discovery of this site has strengthened the idea of archaeologists that copper Hoards and O.C.P. go hand in hand. Hope, the excavation at Chithwari mound will glimpse a fresh light on O.C P. cultural sites in Rajasthan. Shapes of potteries are generally outwardly splayed. Among the surface findings, apart from potsherds, microliths and copper ore are worth mentioning.

Chithwari copper Hoard consists of various kinds of objects :— (1) Axes (2) Chisels (3) Choppers (4) rods (5) Bangles and (6) a mini pitcher. Copper axes are four in number, one of them measures 13.5 x 9.8 c.m. in size. Thickness of section measures 0.4 to 0.5 c.m. copper axes from Chithwari Hoard are different in size, shape and weight as compared with that of Ganeshwar. These copper axes bear no indentation mark in comparision with that of Ganeshwar. Chisels are of different sizes, the biggest one measures 27.7 x 1.3 c.m. Chisels have resemblance with that of Kurada (Parvatsar) copper Hoard. Approximately the choppers are 6 in number. The biggest one measures 27.6 x 4.8 c.m. in size. Typically the choppers have a great deal of resemblance with that of Kurada copper Hoard and the copper objects from Ahar excavations. Choppers seem to be of great use by their sharp edge and thin section.

Bangles in a large number vary from one another with reference to their thickness. The mini-pitcher is very important.

It is one and the only of its kind ever found in Rajasthan. A small copper vessel with circumference 6.1 c.m. & 3.2 c.m. deep is a fascinating piece, which I presume to have been used for holy rituals such as worshipping. Rods are round with square ends of different lengths; 12.1, 13.4, 7.6 cms and so on. From ancient times, rods are used for medical treatments. They heated and pressed against body from one of its ends after detecting some veins. Still this is used for asthama even today in rural ares of Rajasthan. Rods from Chithwari bear assumption for this kind of purpose,

On account of copper ore remains, it is estimated that the inhabitents of Chithwari protohistoric mound, might have been the manufactures of copper implements. Further it is also suggested that the course of Bandi river from its birth place Barwara to Kalwad is to be surveyed throughly inquest of other O.C.P. mounds. The Hoard now has been taken in the custody of Raj. Archaeology & Museums Deptt.

□□

Chithwari Copper Hoard

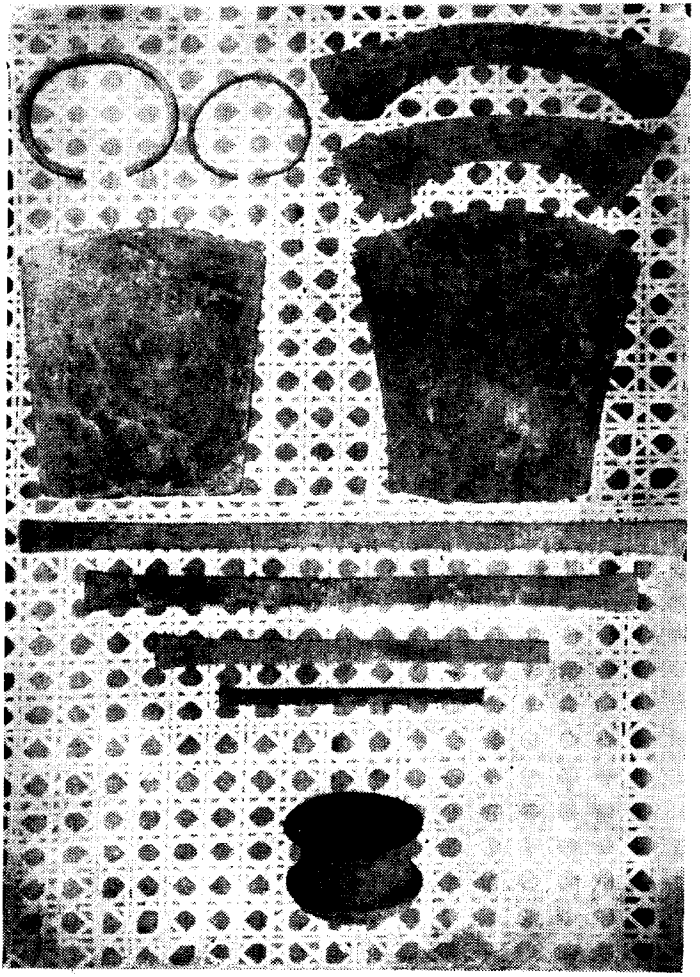

A

B

A. COPPERHOARD : AXES, CHOPPERS AND BANGLES.

B. COPPER HOARD : CHISELS, ROD AND A MINI PITCHER.

VICTORY OVER SEX

(A Technique of Spiritual Science)

—J. S. Zaveri
—Muni Mahendra Kumar

[The authors of this article are presently engaged in translating and annotating the Jain canonical literature. At the moment, the work in hand is that of SŪYAGAḌO. The fourth chapter is "Victory over Sex" in which Bhagavān Mahāvīra has shown an unambiguous process of victory over sex, which can be expressed in modern scientific terminology. Truths known to philosophy and science can now be woven together for the benefit of mankind. It is necessary, however, that the ancient methodology of disseminating knowledge and their interpretations of the eternal wisdom be expanded, modified and restated in terms that encompass newly-discovered scientific facts.

It may be added that the authors are quite adept in this particular type of studies and Jain Vishva Bharati Institute has recently published some of their works. **—Ed.**]

"ओए सया ण रज्जेज्जा, भोगकामी पुणो विरमेज्जा ।
भोगे समणाण सुणेहा, जह भुंजंति भिक्खुणो एगे ॥"

Sūyagaḍo (1), 4/32.

"The wise ascetic who aspires to be solitary—free from attachment and aversion—must never be infatuated by sexual pleasures. If harassed by a desire for such pleasures, he should overcome it (first by countermanding its insistence and then by transmuting it by internal austerities). Listen to the (wretched) state of the degraded ascetic who succumbed to such desires."

Significance

The IVth chapter of *Sūyagaḍo* (1), is a highly significant one as it deals with a primordial unlearned instinct viz. the sexual impulse (*kāma-vāsanā*). Victory over sex is as fundamental to the path of final emancipation as sex is to worldly life. The chapter is divided into two sections. The first one shows how a promiscuous member of the so-called weaker sex could drag an unwary ascetic into degradation and keep him bogged down in the quagmire of sensual pleasures.[1] The second section is mostly devoted to the description of the ludicrous but at the same time pathetic condition of the

captivated and degraded ascetic.[2] The woman who has trapped the ascetic treats him worse than a servant—almost like a slave. There is nothing left of his own personality and he is reduced to become a nincompoop.

In this article, we shall try to expound the process of victory over sex as prescribed by Bhagawān Mahāvīra and enunciated by Ārya Sudharmā. The verses 3 , 50-53 unambiguously lay down the necessity of austerities (*tapas*) in general and meditation in particular in the ascetic life. In the first verse of section 2 (i.e. No. 32), the ascetics are reminded that their goal is self-realization, i.e., to become a pure singularity, a pure SELF, without any encumbrance of attachment and affection. And this is possible only if they keep themselves totally free from the sensual desires—particularly the sexual indulgence.

Now it is not uncommon that during the initial stages of the spiritual progress on the path of self-realization, an immature ascetic is frequently harassed and tormented by the onslaught of sensual desires, Knowing this, he has been counselled not to succumb to the insistence of such a desire but to countermand (विरञ्जेज्जा) its demand.

Three Levels of Sex

To fully comprehend the process of the victory over sex, it is necessary to know the triple-level nature of sex, viz.

(i) impulsive (emotional) level
(ii) mental (psychological) level and
(iii) physical or physiological level

This triple aspect of sex is indicated by the term 'काम-मइ-वट्टं' in verse no. 33.

This term is a compound of three words :

(i) *Kāma* (*Kāma*)—sex impulse
(ii) *Mati* (*Mai*)—sexual desire
(iii) *Vṛttam* (*Vaṭṭam*)—sexual act

The word *kāma* refers to the first or the subtlemost level viz., emotional level, i.e., the urge for sex or sex impulse (*kāma-vāsanā*). It is produced in the subtle body; the word *mati* refers to the second level, the mental or psychological level i.e., the feeling or desire in the mind; and the word *Vṛttam* refers to the third level, the physiological level i.e., the physical act to satisfy the desire. Thus, the physical sexual act is the consummation of the sex impulse which exists as a primal drive in every living organism.

1. The Emotional Level

According to the doctrine of *karman*, the sex-impulse is a

quasi-passion (*no-kaṣāya*) which is the result of the rise and fruition of a sub-species of the conduct-deluding (*chāritra-mohanīya*) *karman*. It is manifested in the form of a wave in the subtlemost body (*kārmaṇa śarīra*) and is called *adhyavasāya*. It radiates towards the gross physical body. It is tinged with and energized by one of the three malevolent psychic colours (*leśyās*) depending upon the intensity of the fruition. This is the most subtle aspect of sex which is known in modern psychology by the term '*libido*' (*kāma-vāsanā*). The impulsive forces are extremely potent and very difficult to subjugate unless one knows its *modus operandi*.

2. The Mental Level

When the wave of sex-impulse enters the gross physical body, it interacts with the endocrine system. Its wave-energy is then transformed into gonadotrophic hormone which is secreted by the pituitary gland and which stimulates the gonads or sex-glands of the person. The sex-glands, thus stimulated, begin to secrete and distribute sex-hormones, which, in turn, interact with the brain and the nervous system. The subtle impulsive force of the sex-impulse has now been converted into a mental or psychological force commonly called desire. This is the second or middle level i.e., *kāma-ichchhā*. Thus the sex impulse is the forerunner of the desire for sex.

3. The Physiological Level

The compulsive force of the desire for sex, not only generates feeling but also commands appropriate (physical) action to satisfy the need. The sex-hormones released by the sex-glands now stimulate and activate the physical sex–organs. The physiological symptoms of the sexual excitement then manifest themselves in these organs—erection in the males and increased vaginal discharge in the females—and if the environmental conditions are favourable, sexual intercourse takes place. The sexual act, thus, is the third level of sex. (See diagram at the end of the article.)

Process of Victory over Sex

Let us now consider the process of countermanding the sexual desire as counselled by the scripture. In the first place, though the sex drive is possessed by all living organisms, the question of countermanding it, is applicable only in the case of humans. All other sub-human animals would just act out the ritual of courtship and mating. Man alone has the ability to control his response to the insistence of the sexual desire. Thus, countermanding the sexual desire means abstaining from succumbing to its insistence and refraining from taking physical action. And this is not an easy exercise.

The concerned ascetic is now subjected to a psychological conflict produced by two opposite desires, simultaneously demanding appropriate action—the sexual desire demanding sexual act, while the desire for maintaining the sanctity of asceticism denying the same. It is, of course, open to the ascetic to suppress the former to avoid transgressing the ascetic code. However, a suppressed desire is not destroyed but goes underground in the subconscious mind and would continue to torment him from there. And frequent suppressions may result in the banished desire becoming a psychological explosive which is more dangerous for not being consciously recognised.

The ascetic may try to prevent the accumulation of such psychological dynamite by canalising the desire instead of suppressing it. Canalisation into alternate outlets or sublimation into various types of creative activities such as painting, writing, arts and crafts, etc., where the energy of the powerfully dangerous impulsive forces could be creatively utilised, could be resorted to.

The most appropriate way for the ascetic, however, is the process of catharsis of the desires through practising intense austerities, both external and internal. The external ones (fasting, foregoing rich and delicious foods etc.) are mostly helpful for enhancing the success attained by the practice of internal ones (meditation, self-study, etc.). Among these also, meditation (*dhyāna*) is considered to be the most efficient means for long lasting or permanent effect. Contemplation and Auto-suggestion, Perception of Psychic Centres and Perception of Psychic Colours are the most appropriate meditational exercises.[3] Practice of meditation has the ability to strengthen the rectitude of will and weaken the impulsive forces.

Contemplation and Auto-suggestion

The process of catharsis starts with contemplation and auto-suggestion (*anuprekṣā*). The practitioner continuously reflects as under :

(i) "Sex begets sex; the more I indulge in it, the more tormenting it becomes. It is unsatiable." —(सज्जातिया इमे वाया—4/50)

(ii) "The omniscients (*tīrthaṅkaras*) have declared that indulgence in sex results in influx and bondage of heavy *karman* leading to innumeruble cycles of re-births." —(वज्जकरा य एवमक्खाया—4/50)

(iii) "Far from being blissful, the indulgence in sex is terrorizing." —(एवं भयं, ण सेयाए—4/51)

Perception of Psychic Centres

The next step in the process of countermanding the insistence of the desires, is transmutation of chemical energies of the hormones,

producing the desires, through the practice of the meditational exercise of the Perception of Psychic Centres. These psychic centres are associated with the endocrine glands, pituitary and pineal, situated in the middle of the brain. We have seen above that the sex-glands are stimulated by gonadotrophic hormones released by the pituitary. By concentrated perception of the pituitary gland, the secretion and release of gonadotrophic hormones could be inhibited and/or transmuted. This exercise results in the inhibition of the activities of the sex-glands and considerably weakening of the forces of the sexual desire. It is now much easier to countermand the insistence of the sexual desire.

Perception of Psychic Colours

Finally the ascetic (practitioner) practises the meditational exercise of Perception of Psychic Colours—*leśyā dhyāna*—which is a potent tool for reducing the intensity of the sex-impulse by transforming the *leśyā* which accompanies it. In this exercise, the practitioner produces and superimposes waves of bright colours—red, yellow or white—corresponding to *taijas, padma* and *śukla leśyā*, over the waves of dark colours—corresponding to *kṛṣṇa, nīla,* and *kāpota leśyā*—accompanying the sex-impulse, radiating from the subtle body towards the gross physical body. Superimposition annihilates/weakens the force of the malevolent *leśyā* and the impulse, ultimately leading to the purification of *adhyavasāya*.

This process is referred to in verses 52 and 53.[4] The terms **'सुविसुद्धलेसे'** i.e., purification of *leśyā* and **'अज्झत्थविसुद्धे'** i.e., purification of *adhyavasāya,* clearly refer to the above-mentioned exercise—*leśyā dhyāna*. The term **'धुय'** indicates the process of catharsis described above as a whole.

□

References :—

1. Op. cit., 4/2-30.
2. Ibid., 4/32-49.
3. For detailed discussion of the technique of meditation, see the following tracts on Preksha Dhyan by Yuvācharya Mahāprajna : (i) Contemplation and Auto-suggestion, (ii) Perception of Psychic Centres, (iii) Perception of Psychic Colours.

४. सुविसुद्धलेसे मेहावी, परकिरियं च वज्जए णाणी ।
मणसा वयसा काएणं, सव्वफाससहे अणगारे ।।
इच्चेवमाहु से वीरे, धुयरए, धुयमोहे से भिक्खू ।
तम्हा अज्झत्थविसुद्धे, सुविमुक्के आमोक्खाए परिव्वएज्जासि ।।

—Sūyagado (I), IV/52-53.

□

Victory over Sex

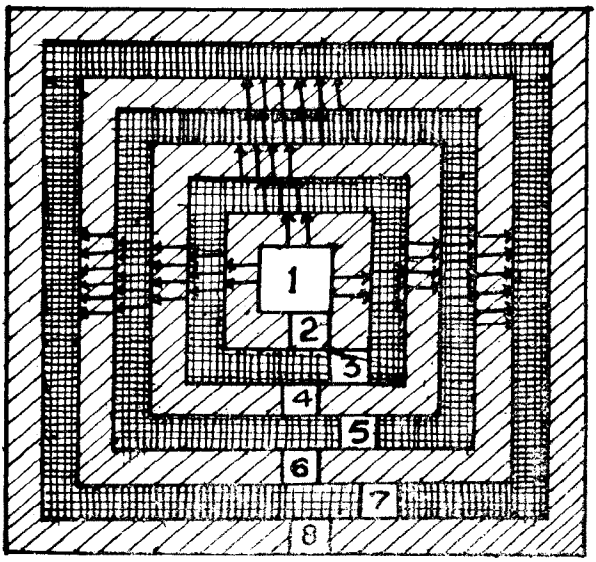

Simplified diagram of triple-level sex

1. **Subtle body** (*Kārmaṇa Śarīra*).

2. **Region of primal drives** (*adhyavasāya*) produced by the fruition of passions and quasi-passions (*kaṣāya* and *nokaṣāya*).

The sexual activity is a quasi-passion called *veda*. (i.e. *puruṣa veda* etc.)

3. **Region of colours**(*leśyā*), determining intensity of the sex-impulse.

4. **Region of urges and impulses**—Emotional level of sex—wave of impulse radiates towards the gross physical body.

5. **Endocrine system**—Sex impulse interacts with pituitary gland which secretes gonadotrophic hormone which in turn, stimulates the sex-glands (gonads).

6. **Nervous system—Brain**—Sex homones released by sex glands interact with nervous system through hypothalamus in brain and produce desire for sex (Psychological level of sex)

7. **Brain (hypothalamus)** stimulates the sex-organs and physiological symptoms of sexual excitement appear.

8 **Sex-organs** are ready for the final act—Physiological level of sex.

RĀGHAVABHAṬṬA ON MĀGADHĪ IN THE ABHIJÑĀNA ŚKUNTALAM

☐ *Jagat Ram Bhattacharyya*

Rāghavabhaṭṭa (flourished between 1475-1500 A.D.) in his commentary Arthadyotanikā on the Abhijñāna *Ś*akuntalam of Kālidāsa has also commented on the Prakrit passages of the text. It is interesting to note that very few commentators of Sanskrit dramas have tried to justify the formation of Prakrit words by quoting the Sūtras of any standard Prakrit Grammarians. The Sanskrit renderings of Prakrit passages are, of course, given by many, if not by all, while commenting on the Prakrit passages. But Rāghavabhaṭṭa has given not only the meaning and rendering of prakrit Passages into Sanskrit but also has cited some Prakrit Sūtras in order to justify the formation of Prakrit words. As a result his commentary, Arthadyotanikā, is very useful for the students of Prakrit Philology.

He has quoted in his commentary some Prakrit Sūtras for Śaurasenī, Māgadhī and even for Mahārāṣṭrī. Sometimes he has mentioned the name of Vararuci as his authority and in some cases (perhaps in most of the cases) he has not mentioned the sources of his authority. However, the Sūtras are more or less interesting and can be judged by their own merits. It is to be noted that when he mentions the name of Vararuci, we may not always trace that Sūtra from the printed editions of Vararuci available till today, nor do we find in other Prakrit grammatical treatises. This phenomenon is intersting in a sense that till his time Prakrit was studied carefully and also grammaticatly and for which Vararuci's Prākṛta Prakāśa was regarded as an infallible guide.

Rāghavabhaṭṭa belongs to the end of the 15th century. It was a time when New Indo Aryan languages grew up. Before Rāghavabhaṭṭa there were few Prakrit grammarians who earned name and fame as Prakrit grammarians. Vararuci (5th Century A.D.) is the earliest of all the Prakrit grammarians known so far to us. Bhāmaha (8th century A.D. ?) has prepared a Vṛtti or commentary on Vararuci. After him came Hemacandra (1088-1172 A.D.). The Prakrit grammar of Hemacandra is very eleborate and exhaustive, and three times bigger than Vararuci. After Hemacandra came Puruṣottama (13th century A.D.), Kramadīśvara (13th century A.D.),

Trivikrama (14th century A.D.) and Rāma Śarmā Tarkavāgīśa almost contemporary to Rāghavabhaṭṭa. Hemacandra being a Jain and therefore a secterian grammarian, his grammar was perhaps seldom studied by common people. In the midst of all these Prakrit grammarians Rāghavabhaṭṭa composed his commentary where he mentioned some of the Sūtras of Prakrii grammars. I am here only concerned with the Sūtras which are given by Rāghavabhaṭṭa in the commentary of the VI act of the Abhijñāna Śakuntalam while discussing the Māgadhī passages there. In the VI act, the two dialects are found, Śaurasanī and Māgadhī. I shall only discuss here the Sūtras of Māgadhī. As he has said something on the Śaurasenī dialect before he has not quoted many Sūtras for Śaurasenī dialect here in this act.

The method which I have followed in this paper for evaluating the Māgadhī Sūtras of Rāghavabhaṭṭa is comparative. I have compared him with some other Prakrit grammarians whose names are mentioned above. It appears to me that in some cases the Sūtras are quite all right and in some cases they are so corrupt and confusing that at times it is difficult to find out the essence of the Sūtras, I have quoted the commentary of Rāghavabhaṭṭa on the relevant portions of the text, along with the text of the Abhijñāna Śakuntalam on which a commentary is given, first the text and then the commentary and then my comments on the Sūtras. Let me discuss the Sūtras of Rāghavabhaṭṭa.

(1)

Śakuntalā (Text) — ale kumbhīlaā, kahehi kahiṃ tue eśe maṇibandha ṇukkiṇṇa ṇāmahee lāa kīlae aṅgulīae śamāśādie.

Māgadhī Sūtras as found in the commentary of Rāghavabhaṭṭa in the sixth act.

Rāghavabhaṭṭa —
(1) 'āccākṣepe' iti māgadhyām Vararuci sūtreṇa sambuddhavākār ādeśaḥ.
(2) 'rasor laśau' iti sūtreṇa rephasya lo dantyasya tālavyaḥ.
(3) 'ata etsyāt' iti anena prathamaika vacanasyaikāraḥ.

The other grammarians on the same :

i) adīrghaḥ sambuddhau — Vr. XI. 16 of Cowell's edition.
ii) ād-vākṣepe — Pu. XII. 30
iii) ākṣepe ādūv — RT. 2.2.27

iv) ād vā ākṣepe — Mk. XII. 28
v) ā āmantrye sau veno naḥ — Hc. (4.263), in the case of Śaurasenī.

COMMENT ON THE SŪTRAS OF RĀGHAVABHAṬṬA

āccākṣepe

In order to justify the long *ā* in *kumbhīlaā* in the vocative, Rāghava Bhaṭṭa (RBh.) has quoted a Sūtra *āccākṣepe* in the name of Vararuci (=Vr.)—*'āccākṣepe' iti māgadhyām Va aruci sūtreṇa sambuddhā vākārā-deśaḥ*. The simple meaning of this line is that in the sense of contempt *ā* is added to the end of a word ending in *a-base* in the vocative singular. For example—*kumbhīlaka=kumbhīlaā*.

In our existing editions of Vr,'s Prākṛta Prakāśa, there is no Sūtra like *āccākṣepe* as quoted by RBh. But in Puruṣottama (=Pu.) Rāma Tarkavāgīśa (=RT.), and Mārkaṇḍeya (=Mk.), there is a similar type of Sūtra such as *ād vākṣepe*—Pu. XII. 30, *ākṣepe ād vā*—RT. 2,2.27, and *ādvā ākṣepe*—Mk. XII 28. In Vr.'s Prākṛta Prakāśa edited by Cowell, the Sūtra is completely different. Vr. has *a-dīrghaḥ sambuddhau*—(XI. 16 of Cowell's edition), which simply means that in the vocative singular of the *a*-base, the final vowel is lengthened. For example, *he puliśā*. In this connection, it could be mentianed that Hemacandra has almost a similar type of Sūtra which is applicable to the dialect of Śaurasenī and not to Māgadhī. The Sūtra is *ā āmantrye sau veno naḥ*—Hc. 4.263.

From the survey of the views of the Prakrit grammarians a question may be raised whether the suffix *ā* of *a*-base in Māgadhī dialect should be added or not. The answer of the problems is difficult to ascertain. There are three problems of this issue—(1) whether *a* should be added in the Māgadhī dialect or not, (2) or should it be added to the Śaurasenī only as mentioned by Hc. and lastly (3) or could we get *ā* in other dialects as well ?

The eastern Prakrit grammarians such as Pu. RT., and Mk. have sanctioned *ā* also for the Māgadhī. But for other Prakrit dialects their views are not against it. Incidentally we may mention that a word ending in—*in* may take *ā*, irrespective of any dialects in Prakrit. For example—*bho kañcukin=bho kañcuiā*. This shows, though the base is different, that a can be added to the other bases as well.

Hc. However, has prescribed *ā* in Śaurasenī *ā āmantrye sau veno naḥ* (Hc. 4.263). This shows that *ā* in the vocative in Māgadhī in not the only one where *ā* occurs, it occurs in Śaurasenī as well.

From the above discussion, we can say that *ā* in the vocative is not actually a dominant feature of Māgadhī, but it can be used in any

type of Prakrit, two of them (Śaurasenī and Māgadhī) are already sanctioned by the grammarians. In fact, Hc. has a Sūtra *ḍo dīrgho vā* (3.38.) which sanctions *ā* in the vocative even in the Mahārāṣṭrī or Prakrit in general *iha tva prāpte he goamā he goama* (vṛtti under Hc. 3.38). However as RBh, was trying his best to explain some of the Prakrit Peculieiities by citing rules of Prakrit language, he had quoted or mentioned the Sūtra *accākṣepe* in order to justify *ā* in *kumbhīlaā*. Incidentally it may be mentioned that the Sūtra mentioned by him is not acctually found in any of the existing Prakrit grammars. It appears, therefore, either he has prepared by himself the Sūtra or he has quoted from his memory the Sūtra of Vr. without verifying perhaps that it does not occur in the existing editions of Vr., or if it is not made by him, he might have got it from some other Prakrit grammarians whose works have yet not survived.

II. *rasor laśau* :

RBh, has given another Sūtra *rasorlaśau* which says that *r* and *s* will be changed into *l* and palatal *ś* respectively.

The Sūtra as it is printed in the text seems to be all right. This Sūtra is analogous to the Sūtras of some of the Prakrit grammarians. Though RBh. has not mentioned from where the Sūtra has been quoted, we can assume that he has not in this case followed Vr. because Vr. has no Sūtra with *r* becoming *l*. But Hc. has a Sūtra *rasor laśau* (4.288) and other Prakrit grammarians such as, Pu. RT. and Mk. have also similar type of Sūtras. But we can assume that RBh. has not quoted from Hc., because Hc.'s Prakrit grammar is seldom quoted by any authors or commentators. Hc. being a Jain and therefore, a secterian grammarian, his prakrit grammar was not generally consulted by the readers of Sanskrit dramas and whenever the Sūtra of Prakrit grammarian is quoted by any commentator, it was the Sūtras of Vr., Vr. being a well-read Prakrit grammarian and a non-secterian. Even RBh. in other cases has quoted freely from Vr.'s Prakrit grammar. However, the Sūtra *rasor laśau* of RBh. is quite grammatrical and free from any defect.

III. *ata et syāt* :

Compare other Grammarians :

(i)	*ata idetau luk ca*	— Vr. XI. 10.
(ii)	*ata et sau puṁsi māgadhyām*	— Hc. 4.287
(iii)	*sau puṁsye lataḥ*	— Tv. 3.2.30
(iv)	*ataḥ so (sā) vo de tau*	— Pu. XIV. 2
(v)	*adanta soride tau puṁsi*	— Pu. XII. 25
(vi)	*ṅesiti (editau) sau ca*	— Pu. XV. 4

(vii) *luk ca cchando vaśāt* — Pu. XII. 26

(viii) *atastvi detāviha puṁsi sau dvau*
ṇa eśi diṣṭhi ycchi vi e ṇa eśe — RT. 2.2.25

(ix) *sau puṁsya de ditau* . — Mk. XII. 26

RBh. has quoted another Sūtra *ata et yāt* which regulates the ending of nominative singular of *a*-base. In Māgadhī nominative singular of *a*-base becomes *e*. In this respect Prakrit grammarians differ quite a lot. The Western Prakrit grammarians such as Hc., Tv., and others say that in Māgadhī, nominative singular of *a*-base will take only *e* The Eastern Prakrit grammarians such as Vr. Pu., RT., and Mk. say that the nominative singular of *a*-base in Māgadhī has three suffixes *e, i,* and no suffix at all.

(2)

Rāghavabhaṭṭa on the Speaker of Māgadhī

'māgadhī rāksasādeḥ syāt' iti Bharatokteḥ. ādi grahaṇena śakāra dhīvarā dināṁ api grahaṇād atreṣām māgadhy-uktiḥ.

Comments

In the existing of Nāṭya Śāstra chapter. 17 (G.O·S.,) Chaukhambā, Asiatic Society etc.) the reading of RBh. *'Māgadhī rākṣasādeḥ syāt'* is not found, though RBh. has mentioned that it is a quotation from Bharata. On the basis of this quotation, he has explained that the word *ādi* in the aforesaid line indicates *śakāra, dhīvara* (fisherman) etc. *Śakāra,* ofcourse, speaks a variety of Māgadhī, known as Śākārī, in the Mṛcchakaṭika and fisherman speaks Māgadhī in the Śakuntalā. But neither Bharata nor even later Sanskrit dramaturgists have mentioned that dhīvara should speak in Māgadhī. So RBh's explanation cannot be as such accepted as an authority based on the quotation of Bharata. Ofcourse, if we take *narendrāṇāṁ* in the sense of 'people belonging to the lower strata of the society', then we could have some justification of accepting *dhīvara* as one of the speakers of Māgadhī. But we do not have any lexicographical authority to include *narendra* as implying 'low people', rather it signifies completely opposite meaning of it. Abhinava Gupta in his commentary also has not explained the word *narendra,* not even any later writers. But Viśvanātha has almost followed Bharata in this respect with the exception that he has the reading *rājāntaḥ puraḥ* instead of Bharata's *narendraṇām,* that is. perhaps the idea how the meaning of *narendra* has evolved into *rājāntaḥ puraḥ,* which P. L Vaidya thinks is misunderstood by Viśvanātha. In his opinion *narendrāṇām* means 'Snake charmers'. But it is only in the Śiṅgabhūpāla's Rasārṇava Sudhākara, it is said that the fishermen and the low grade persons

speak Māgadhī :

dhīvarādyati-nīceṣu māgadhī ca niyujyate // III. 301

RBh., therefore, it seems, has borrowed this idea from Śiṅgabhūpāla as chronologically both are very near to each other; otherwise, the earliest texts on Sanskrit dramaturgy have never mentioned *dhīvara* as speaking Māgadhī. However, as *dhīvara* speaks Māgadhī, we do not have any objection to take *ādi* as *dhīvara* in this explanation.

(3)

Śakuntalā (Text) —*hage ṇa Īdiśa kammakālī.*

Rāghavabhaṭṭa —*'vayamor hage' iti sūtreṇa aham ityasya hage ādeśaḥ*

Compare other Grammarians :

(i)	*asmadaḥ sau hake hage ahake*	—Vr. XI. 9
(ii)	*ahaṁ vayamor hage*	—Hc. 4. 301
(iii)	*hage aham vayamoḥ*	—Tv, III. 31
(iv)	*ahamarthe hake hañca*	—Pu. XV. 3
(v)	*ahamarthe hage huñca*	—Pu. XII. 31
(vi)	*hake hage cāhamarthe*	—Ki. V. 94
(vii)	*hage ahamarthe yadi māgadhī syāt*	—RT. 2.2.12
(viii)	*ahamityarthe hakke hake ca hagge (hage) hagā ceti*	—Mk. XII. 30
(ix)	*(Śāb) hake syādaha mityarthe*	—Mk. VIII. 5

Comments

The Sūtra of RBh. does not seem to have taken from any known standard grammar books. But he is very near to Hc. who has a Sūtra *aham vayamor hage*. If the word *aham* is not included in this Sūtra, the Sūtra becomes a little defective. Because in Māgadhī Prakrit both *aham* and *vayam* become *hage*. Secondly, *vayamor* in the dual number has no meaning at all, if *aham* is not there to make it dual. Whether in the original manuscript, the word *aham* was inserted or not is not easy to ascertain now. But as it is printed in the text of Śakuntalā's edition, we can say that *aham* is not there. However, as far as meaning is concerned it is not difficult to understand.

(4)

Śakuntalā (Text) : *kim śohaṇe Bahmaṇeti kalia rajjā paḍiggahe diṇṇe.*

Rāghavabhaṭṭa : *māgadhyām 'pya-nya-jña-kṣām jjaḥ' iti sūtreṇa jjaḥ.*

Compare other Grammarians :

(i) *ṇya-ṇya-jña-ñjām ñña*ḥ —Hc. 4. 293

(ii) *nya-ṇya-ña-ñjām ñar* —Tv. 3.2.37
(iii) *vrajo jaḥ* —Hc. 4.294
(iv) *jo vrajeḥ* —Tv. 3.2.38

Comments

The reading of RBh's Sūtra *'pya-nya-ña-kṣām jjaḥ'* is terribly defective. Three major points are defective. The first difficulty is with the inclusion of *py* in this Sūtra, *py* in general both in Māgadhī or in general Prakrit become *pp*; it does not become *jj*.

The second difficulty is with *kṣ* which is stated to be *jj* in Māgadhī. In Mahārāṣṭrī *kṣ* is developed intv (*k*) *kh*, (*c*) *ch* and (*j*) *jh*. Though *kṣ* becomes (*j*) *jh* in Prakrit, it does not become *jj*, be it Māgadhī or any other Prakrit.

The third problem is with *jj*. The *ny* in the Sūtra does not in any case become *jj*, as it is difficult to elide the nasal quality of the sound when it is with semi-vowel, that is, *ny* becomes *nn* dental/cerebral.

This Sūtra is not found in any existing Prakrit grammars. The content of this Sūtra is found in Hc. and Tv's grammar but not in any other Prakrit grammarians. Hc. and Tv. both belong to the western school and Vr., Pu., Kī , RT. and Mk. belong to the eastern school and all the eastern grammarians have not made any Sūtra on this point. It is only in the western grammarian we have such a type of Sūtra. If that be the case what is then the source of Rbh. ? As the other Sūtras quoted by him are not taken from any standard Prakrit grammar, we may say that this is also not taken from anywhere. RBh. might have correctly written the text. These anomalies are therefore, to be vested on the editor of the text or of the scribe. We can try to restore the original Sūtra of RBh. on the basis of Hc. & Tv.

py may be a misreading for *ṇy* (written in nāgrī script as ण्य). This round shaped portion of *ṇ* (ण) is perhaps, misrbad as *p* (प). As it was with semivowel, the round shaped portion was detached from the semivowel portion (i.e. ण्य) and therefore it was difficult to distinguish between *ṇy* (ण्य) and *py* (प्य), and ultimately it was misread as *py*. That it was *ny* could be guessed from Hc. and Tv.

In a similar way *kṣ* is a misreading for *ñj* (written in nāgri script as ञ्ज). Apparently it is difficult to ascertain how *ñj* of nāgrī script turned into *kṣ* (क्ष). But there is every possibility of its misreading with *ñj* (ञ्ज). Probably the editor was under the influence that *kṣ*. becomes (*j*) *jh* and therefore, *ñj* was accidentally misread as *kṣ*. I believe that the reading *kṣ* (क्ष) would be *ñj* (ञ्ज). So *kṣāṁ* in the Sūtra should be *ñjāṁ*.

The third difficulty is with *jj*. It is very easy to say that *jj* (ज्ज)

is likely to be misread with *ññ* (ञ्ञ). This misreading of *jj* as *ññ* or vice-versa is quite common in nāgrī script particularly when it is in Prakrit. If the editor is not fully attentive, there is every possibility of misreading *ññ* as *jj*, because in nāgrī script they look almost similar in appearence. It can be noted here also that very often it is found particularly in Prakrit that whereever we have *j* (ज), there is almost invariably a different reading with *ñ* (ञ). For example, in P.L. Vaidya's edition of Hc.'s Prakrit grammar in Māgadhī chapter under the Sūtra *vrajo jaḥ* (4.294) in the vṛtti *vrajer jakārasya ñño bhavati* has a different reading as *jo bhavati*, and in the example, *vaññadi* has a different reading *vajadi*. These types of instances can be given from other Sūtras also. Therefore it is suggested that the reading *jj* (ज्ज) will be *ññ* (ञ्ञ). The Sūtra thus emended stands as follows :

ṇya-nya-jña-ñjām ññaḥ

And this emendation will go on a par with the Sūtras of Hc. and Tv. quoted above. The only difference with them is the order of the Sūtra. Hc. and Tv. have dental *n* with semivowel (*ny*) as the first member of a Sūtra, and *ṇy* as the second member of the Sūtra, whereas RBh. just the reverse, that is, cerebral *ṇy* is the first and dental *ny* is the second member of the Sūtra. As RBh. has already dental *ny* and *jñ* in the Sūtra and as they are quite correct from the point of view of Māgadhī character, I have not changed the order. But as *py* is a misreading for *ṇy* because of the reasons given above, I have replaced my emendation with *py* only. Here also, I see some reasons in RBh's arrangement, As cerebral *ṇy* comes before dental *ny*, the inclusion of cerebral *ṇy* first seems to be a little logical; first cerebral and then dental.

In a similar way, I can say that *kṣ* is replaced by *ñj* which is also logical in order, first *jñ* and second *ñj*. So, naturally if these readings of RBh., as emended are accepted, then the Sūtra has some meaning other-wise it is difficult to justify the meaning of the Sūtra with the reading as it is printed.

Though it is not possible for us to find out the reasons of such misreadings in the Sūtra of RBh., we may perhaps guess why this misreading has crept into being. It is perhaps, because of the reading of *rajjā paḍiggahe dinṇe* in the original text of the Śakuntalā. The reading *jj* in *rajjā* is going to be supported by a Sūtra quoted by RBh. But as far as the edition of Pischel is concerned the reading is *laññā* particularly when *jñ* is changed into *ññ* in Māgadhī according to Hc. That the reading *rajjā* is also defective can be proved by the fact that *r* should be changed into *l* in Māgadhī and for this even RBh. has quoted a Sūtra *rasor laśau*. So, there is no justification to say that to

support a worng reading of a Māgadhī passage, the Sūtra is to be read wrongly. However, the reading of the Sūtra under discussion is defective as far as it is printed in RBh's commentary, and hence need for emendation.

(5)

Śakuntalā (Text) suṇadha dāṇiṁ/hage śakkāvadāla bbhantala vāśī dhīvale.

Rāghavabhaṭṭa suṇadha dāṇīṁ śṛṇute dāṇīṁ, *'iha hacor hasya'* iti dhaḥ. *'idāṇīṁo dānīm'* iti dānim ādeśaḥ.

COMMENTS

Both the Sūtras— *iha hacor hasya* and *idānīmo dānim* seem to have been quoted from Hc.'s Sūtra found in the Śaurasenī chapter. The Sūtras are exactly the same. cf. *iha hacor hasya* (4.268), *idānīmo dānim* (4·277). As it is not a Māgadhī dialect, I have no comment on it,

(6)

Śakuntalā (Text) pāḍaccalā. kiṁ amhehiṁ jādī pucchidā.

Rāghavabhaṭṭa 'dasyuh pāṭaccaraḥ stenaḥ 'iti haimaḥ. jādī='diri cecoḥ' iti diḥ.

COMMENTS

The Sūtra *'diri cecoḥ'* (Hc. 4.273) has been quoted from Śaurasenī of Hc.'s Prakrit grammar. And the Sūtra is quoted correctly. As this sūtra applies to the Śaurasenī dialect, I refrain my self from commenting anything on it.

(7)

Śakuntalā (Text) — ahake jāluggā-lā-dī-hiṁ maccha bandhaṇo bāe hiṁ kuḍumba bhalaṇaṁ kalemi.

Rāghavabhaṭṭa — ahake aham "ahamarthe hake hage" ityukteḥ. jālamānāyaḥ 'ujjhalo vaḍia saṁbhia' iti deśīkośe.

COMMENTS :

The Sūtra *"aham arthe hake"* is not traceable either from Vr. or from Hc.. But Pu. has almost the same Sūtra with the addition of a word only (*aham arthe hake hage huñ ca*, 12.31). I have discussed on this point earlier.

(8)

Śakuntalā (Text) — śahaje kila je viṇindae ṇa hu de kamma vivajjaṇīae / paśumālaṇa kammadāluṇe anukam pāmi due vva śottie //

Rāghavabhaṭṭa — sahajam kila yad viniditaṁ na khalu tat karma vīvarjanīyam. dhīvarasya matsyā jive viśeṣe

prastute sāmānyam uktam iti aprastuta praśa ṁsā. anukampā kṛpā tayā mṛdureva śrotriyo dāruṇaṁ paśumāraṇaṁ karma vivarjayati yathā tathā mama sahajam vivarjanīyam na bhavatīti vaidharma dṛṣṭāntaḥ *vva ivār-the*. tadopamā. yathā śrotriya śchāndaso vaidikaṁ dāruṇaṁ paśumāraṇa karmāpi yajñādau vivarjayati. Kratașu hiṁsāyā vihitatvāt sahajam. vinindi-tam iti Bauddhā dibhiḥ

COMMENTS

In this passage the only Sūtra quoted by RBh. is *'vva ivārthe*; It seems, this Sūtra is not complete when compared with the others, Hc. has *'miva piva viva vva va via ivārthe vā'* (2,182) and Vr. has *mmiva-miva via ivārthe*' (9,16 of Cowell's edition). This is a general Sūtra of Prakrit and it will be the same in almost all the dialects of Prakrit. As it is not a peculier feature of Māgadhī, I am not discussiug the validity of this Sūtra is not fully quoted as said earlier.

(9)

Śakuntalā (Text) — ekaśśiṁ diaśe khaṇḍaśo loha macche mae kappide jāva. taśśa udalabbhantale edaṁ ladaṇa bhāśulaṁ aṅgulīaaṁ dekkhia pacchā ahake śe vikka-āa daṁśaante gahide bhāva miśśehiṁ māleha vā muñceha vā. aaṁ śe āama vuttante.

Rāghavabhaṭṭa — mayā kappide kalpitaḥ khaṇḍitaḥ. 'kalpanaṁ kartanaṁ klṛptau' iti viścaḥ.....ayamasy-āṅgulīy-asyāgamaḥ prāpti-stad-vṛttāntaḥ. vik-rayāyeti 'caturthyāḥ ṣaṣṭhī' iti ṣaṣṭhaya niya-mena prāptau 'tādarthye' iti vikalpena catur theka vacanam.

COMMENTS :

'catur-thyāḥ ṣaṣṭhī' (Hc. 3, 131) is a general Sūtra for Prakrit, irrespective of any dialects. This Sūtra, it seems, is quoted from Hc., it has nothing to do with Māgadhī as a special character. The Sūtra *'tādarthye'*, indicates the case-ending, it should have in Prakrit, that is, it should be a dative case. But as dative is not allowed in Prakrit it is being replaced by genitive, in the sense of *'tādarthya'* genitive case is to be used. That is the purport of this Sūtra. Hc. has a Sūtra which gives the alternative form in *'tādarthye'*, instead of *ṣaṣṭīh*, it can have *caturthī* as well, which is, in a sense, rare in Prakrit.

However, the reading of this word (Sanskrit *vikraāya*) has variant readings : (i) in some editions (eg. Gajendra Gadkar) it is *vikkaāa*, (ii) in some editions (Shastri, Sahitya Akademy), it is *vikkaaśśa*, that is, genitive in accordance with tae Prakrit rule, (iii) in some editions (Pischel) *vikkaastaṁ* according to the rules of Hc.'s Prakrit grammar--*sthar-thayo staḥ* (4, 290). Pischel also ultimately pre-suppose the reading Sanskrit *vikrayārthaṁ* to avoid grammatical irregularities in Prakrit. However, at least the reading *vikkaāa* shows that that reading was prevalent ot the time of RBh. and hence, it was necessary for him to justify the reading by quoting a Sūtra, *tādarthye*, which has a parallel in Hc. (4,290).

(10)

Śakuntalā (Text) — jānua, phullanti me hatthā imaśśa vahaśśa śumaṇā piṇaddhum (iti puruṣaṁ nirdiśati)

Rāghavabhaṭṭa 'āmuktaḥ prati muktaśca pinaddhaścā pinaddha vat' ityamaraḥ *caturthyāḥ ṣaṣṭhī tādarthye ca*' ity-anuvartamāne *'vadhāḍāiśca vā*' iti sūtreṇa caturthyeka vacanasya ṣaṣṭhayeka vacanam, tena vahasseti siddham. *'vajihassy*' vadhyasya itya-sāmpradāyikaḥ pāṭhaḥ.

Comments :

For this sūtra *'caturthyāḥ ṣaṣṭhī tādarthye ca*', see my previous discussion.

(ii)

Sakuntalā (Text) eso bhaṭṭiṇā aṅgulia amulla sammido pasādo vidāvido. (iti puruṣāya svaṃ prayacchati).

Rāghavabhaṭṭa esa bhartrāṅgulī-yaka mulya saṃmitaḥ prasādo'pi dāpitaḥ mocanam api śabdaḥ samuccinoti.
svaṃ dhanam 'svo' astriyāṃ dhane' ity-amaraḥ.

Comments :

Nothing on Māgadhī dialect. After this, there is no text on Māgadhī grammar.

BIBLIOGRAPHY

I. Prakrit Grammatical Texts :

Prākṛta-Kalpataru of Rāmaśarman (Tarkavāgīśa)—ed. by M. Ghosh, The Asiatic Society, Calcutta, 1954.

Prākṛta-Prakāśa of Vararuci—ed. by E. B. Cowell, The Prākṛta-Prakāśa or the Prakrit Grammar of Vararuci with the Commentary (Monoramā) of Bhāmaha with notes, and English Translation and index of Prakrit words, to which is Prefixed a

short introduction to Prakrit Grammar. First issue Hert ford 1854; Second issue, London, 1868. Third edition reprinted from the Second by Punthi Pustaka, Calcutta, 1962.

Prākṛta-Vyākaraṇa of Trivikrama—ed. by P. L. Vaidya, Jaina Saṃskṛti Saṃrakṣaka Saṅgha, Sholapur, 1954.

Prākṛta-Sarvasva of Mārkaṇḍeya—ed. by S. P. V. Bhaṭṭanāthaswāmī, Grantha Pradarśanī Series 3. Vizagapatam, The Arsha Company, Book-Selling Dept. 1912, 1927.

Prākṛtānuśāsana of Puruṣottama—ed. by D. C. Sircar, reprinted only a part of the text (chapters IX-XX) in his 'A Grammar of the Prakrit Language', Calcutta—1443.

Saṃkṣiptasāre Prākṛtādhyāya of Kramadīśvara—ed. By S. R. Banerjee prakrit Text Society, Ahamedabad, 1976.

Siddha-hema-śabdānuśāsanam of Hemacandra—ed. by P. L. Vaidya, from S. P. Pandit's edition, 1st edition, 1928, 2nd edition, revised, 1936, 3rd revised edition witn notes and index of Prakrit words, Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona, 1980.

II. Sanskrit Text :

Abhijñāna Sakuntalam of Kālidāsa (with the Commentary of Rāghavabhaṭṭa)—ed. by Narayana Balakrishna Godabole, Fourth edition revised by Wasudev Laxman Shastri Fansikar 'Nirṇaya sāgara' Press, Bombay, 1905.

III. General Books :

Banerjee, Satya Ranjan—The Eastern School of Prakrit Grammarians, Vidyasagar Pustak Mandir, Calcutta, 1977.

Banerjee Sastri, A. P.—The Evolution of Māgadhī. Oxford, 1922.

Chatterjee, Suniti Kumar—Origin and Development of Bengali Language, University of Calcutta, Calcutta, 1926.

Hultzsch. E. (ed.)—Corpus Inscriptionum Indicarum, Volume-I, Inscriptions of Aśoka, New edition, Oxford, 1925.

Jha, Subhadra—A Grammar of the Prakrit Languages, (Translated into English from the Original German of R. Pischel, Grammatik Der Prakrit Sprachen with Glossary of selected words), Motilal Banarasidass, Delhi, (Ist edition, 1965) 2nd edition, 1981.

Jha, Munishwar—Māgadhī and its formation, Calcutta Sanskrit College Research Series No. LX, Sanskrit College, Calcutta, 1967.

Keith, A. Berriedale—The Sanskrit drama, in its Origin, Development, Theory and Practice, Oxford, 1924.

Pischel, Richard—Grammatik Der Prakrit Sprachen, Strass burg, 1900 (Translated into English by Subhadra Jha, Motilal Banarasidass, Delhi, 1957; also translated into Hindi by Hemacandra Joshi, Bihar Rastra Bhasa Parisat, Patna, 1958).

Printz, Wilhelm—Bhāsa's Prakrit, Frankfurt, 1921, Trahslated into English by P. V. Ramanujaswami,JVOI, Vol. IV, 1943, pp. 1-20, 103-122.

Rāmānujaswāmi, P. V.—Bhāsa's Prakrit by Whilhelm Printz, translated into English, JOVI. Vol. IV (Part-I) 1943, pp. 1-20, 103-122.

Sircar, D. C.—A grammar of the Prakrit Language based mainly on Vararuchi, Hemachandra and Purushottama, Motilal Banarasidass, Delhi (1st edn. 1943), 2nd enlarged edn. 1970,

Woolner, A. C.—An introduction to Prakrit, Lahore, 1917, 2nd ed. 1928 (Panjab University oriental Publication, Lahore) 3rd ed. by Motilal Banarasidass, Lahore, 1939.

Abbreviations :

Hc.	:	Hemacandra
Ki.	:	Kramadīśvara
Mk.	:	Mārkaṇḍeya
Pu.	:	Puruṣottama
RT.	:	Rāmaśarman Tarkavāgīśa
Tv.	:	Trivikrama
Vr.	:	Vararuci.

THE MAHĀVĪRA ERA

—PARMESHWAR SOLANKI

Premise

MAHĀVIRA ERA OF JAIN CHRONOLOGY

Jain Chronology contains two types of time cycles—ascending and descending. The latter starts from joy to sorrow whereas the former repeats it from sorrow to happiness. The cycle completes in *"Twenty Koḍākoḍī Sāgaropama"* limit and makes a *Kalpa* (creation) (Jambū Pr. 2/115). According to *Sarvārthasiddhiḥ*, the cycle completes in descending six parts, i.e., *sushama-sushamā, sushamā, sushama-dushmā, dushama-sushamā, dushamā and ati-dushamā,* whereas in ascending six parts, i.e., *dushama-dushamā, dushmā, dushama-sushamā, sushama-dushamā, sushamā and ati-sushamā,* mentioned also in Ārya Siddhānta (3.9) :

उत्सर्पिणी युगार्धं पश्चादवसर्पिणी युगार्धञ्च ।
मध्ये युगस्य सुषमादावन्ते दुष्षमेन्दूच्चयात् ॥

The limit of Creation of this twenty *"koḍākoḍī sāgaropama"* makes a period of two hundred thousand years or a period of Two Millennia, that can be counted as under :—sushama-sushamā=40,000 years, sushamā=30,000 years, sushamā-dushamā=20,000 years, dushama-sushamā=5800 (4200 years less in 10,000); dushamā=2,100; ati-dushamā=2,100 and dushama-dushamā=2,100 years, dushamā=2100 years, dushama-sushamā=5800 years, sushamā-dushamā=20,000 years, sushamā=30,000 years, ati-sushamā=40,000 years. (This is all imaginary calculation. The scriptures contain more period of time and the *Huṇḍāvasarpiṇī* period of time is believed to be including numberless ascending and descending cycles of the time).

According to *Tiloyapaṇṇāttī* (Gāthā 4/1239), Lord Ṛṣabha attained *nirvāṇa* while 3 years, 8 months and 15 days were still left in third *ārā* (spoke) in descending cycle whereas Lord Mahāvira achieved liberation when the same period remained in the fourth *ārā* (spoke). The *Kalpa Sūtra* repeats the same duration in other words that *Arhat Ṛṣabha* of *Koshal* attained *nirvāṇa* while 3 years and 8½ months were still left in the third spoke. Thereafter in the fourth *ārā* (spoke) i e. less 4200 years *"sāgaropama Koḍākoḍī"*, or of 5800 years, (less 4200 years in 10,000 years) while 3 years and 8½ months were still left, Lord Mahāvīra attained *nirvāṇa*. Thus the whole period between the two *nirvāṇas* (liberation of Ṛṣabha and Mahāvīra) equalises the period of

fourth *ārā* (spoke) of the descending cycle.

In *Kaṣāya-Pāhuḍa* (1,56.75.2) and *Tiloyapaṇṇattī* (4.1474) too, we find the mention of starting of *Dushamā ārā* (spoke) before 3 years 8 months and one fortnight after the death of Lord Mahāvīra as under :—

१. एदाणि पण्णरस दिवसे हि अट्ठमासे हि अहिय पंचहत्तरि वासेसु सोहिदे वड्ढमाण जिणिदे णिब्बुदे संते जो सेसो चउत्थ कालो तस्स पमाणं होदि ।

२. णिव्वाणे वीर जिणे वास तये अट्ठमास पक्खेसुं ।
गलिदेसुं पंचमओ दुस्सम कालो समल्लि यदि ॥

Thus the difference of 5800 years is justified between the death of Lord *Ṛṣabha* and Lord *Mahāvīra*, the first and the last *tīrthaṅkaras* of Jaina Religion.

Occurrence of Comet :

Kalpa Sūtra (128, 129, 130) mentions that wicked comet named *Bhashma Rāshi* entered in the *Uttarā-phālgunī nakshtra*, the 12th lunar mansion, and birth planet of Lord *Mahāvīra* in the same night in which (*amāvasyā*) he attained liberation, which brought disgrace for his disciples, and after expiry of 2000 years the disciples were respected again when the wicked star moved out of *Uttarā-phālgunī* planet.

If this shooting star (*bhasma-rāsi graha*) is recognised as Halley comet, its appearance is recorded since 240 B.C. to 1986 A.D. in Chinese record when it was last witnessed and if we back-calculate in its periodical appearances in the past, it might have been seen entering in the 12th lunar mansion for the first time in between 1760 B.C. to 1746 B C.

The famous astrologer Bhaṭṭotpala, the commentator of Varāhamihira's *Bṛhatsamhitā*, has also recorded the movement of some shooting stars. According to him, orbital period of the *Kaliketu* is 300 years and 9 months, and after its visibility, *Paitāmaha Chalaketu*, or *Kāshyap Śvetketu* appear after the expiry of 1500 years. By this description it is justified that after the death of *Mahāvīra* the disciples who were neglected got the respect again after the expiry of 1800 years and 9 months, i.e., in the reign of *Shālivahan Shak*, the patron of Jainism.

The mention of Shak rulers :

Tiloyapaṇṇattī and *Dhavalāṭīkā* mention five great *Shak* rulers in the 461 th year, 605 years and 5 months, 7995 years and 5 months, 9785 th year and 14793 th year after the death of Lord *Mahāvīra* as under :—

"जिणे सिद्धिगदे चउसदइगिसट्ठि वास परिमाणे :
कालम्मि अदिक्कंते उप्पण्णो एत्थ सकराओ ॥१४९६

अहवा बीरे सिद्धे सहस्सणव कम्मि सगसयब्भहिए ।
पणसीदिम्मिय तीरे पणमासे सकणिओ जादो ॥ १४९७

चोद्दस सहस्स सग सयतेणउदी वास काल विच्छिदे ।
बीरसर सिद्धी दो उप्पण्णो सगणिओ अहवा ॥ १४९८
णिव्वाणे वीरजिणे छव्वास सदेसु पंचवारिसेसं ।
पणमासेसु गदेसुं संजादो सगणिओ अहवा ॥ १४९९"

—तिलोयपण्णती, चौथा अधिकार

"पंच य मासा पंचय वासा छच्चेव होंति वाससया ।
सगकालेण य सहिया थावे यव्वो तदो रासी ॥ ४१
सत्तसहस्साणवसद पंचाणउदी सपंच मासाय ।
अइकंता बासाणं जइया तइया स गुप्पत्ती ॥ ४३"

—धवला, ९.४.१.४४

The description of *Shak* king in 605 years and 5 months of Mahāvīra's era, is recorded in *Harivaṁśapurāṇa* (60.551), *Titthogāti Payaṇṇā*, (623), *Triloksāra* (850) and *Vichāra Shreṇī* (Merutuṅga) too. A manuscript preserved in Ārrah (Bihar) also mentions that after the expiry of 605 years and 5 months, i.e., 77 years and 7 months before the period of *Āchārāṅgīs* (683 years) the *Shak* King was born after Lord *Mahāvīra's* death.

Out of the five dates mentioned above, the last two, i.e., at the expiry of 9785 years and 14793 years, the Shak King was born, is incorporated only through the *Paurāṇic* references of Hindus, but the first three dates are reckoned as under :—

(1) After 461 years of *Mahāvīra's* death, (i.e., 1703 B.V.E) King Khārvela was coronated in 1243th year. Before Vikram Era and thereafter in his 10th year of rule (i.e., 470 years after the death of *Mahāvīra*) he started the first *Shak* era of Jain chronology when Prince Vāsuk was made heirapparent and the third epoch of Kaliṅga dynasty ended i.e., on the death of Kuḍepashri, the father of King Khārvela. This is the first *Vikram Shak era* in Jain chronology and Khārvela is the first *Shak* King (Tulsī-prajña, Editorial, 17/4).

(2) Shūdrak, King of Shūdra dynasty, started his own *Shak* era after 605 years 5 months of Mahāvīra's death (i.e., 1703 B.V.E) in the year 1098 B.V.E. (1097 years and 7 months). This era has been mentioned in *Jyotish Darpaṇa* (Anoop Sanskrit Library, Bikaner, Ms. No. 4677) by Kañchu yallāryya, the famous astrologer—

'बाणवेदनवचंद्रवर्जिता १९४५ स्तेपि शूद्र शूद्रकसमा प्रकीर्तिताः ।
तेभ्य विक्रम समा भवन्ति वै नागनंद वियदिन्दु वर्जिता : १०९८ ॥'

"That the era of Shūdra Shūdrak starts after 1945 years of Kali age, and the Vikram era starts in his 1098 th year".

This Shūdra Shūdrak is the same "Rāyo Simuk Sātvāhano" whose reliefs are engraved at Nānāghāṭ caves and he is the same King Sindhuk described in Purāṇas together with his eight brothers, and during his reign Jainism flourished as well.

(3) The third *Shak* King is mentioned to be born after 7995 years and 5 months, but *Dhavalāṭīkā* (45/132) does not mention the commencement of the period after Mahāvīra's death. In fact, this calculation starts from the death of Lord Ṛṣabha instead of Mahāvīra's death. As already mentioned, there is a gap of 5800 years between the deaths of Lord *Ṛṣabha* and Lord *Mahāvīra*. Thus it becomes 7503 years with the addition of 1703 years B.V.E., i.e., including the gap of 800 years + 1703 B.V.E. After that the *Shak* King was born in fifth month and 492th year of Vikram era whose death occurred in 526 V.E. according to *Darshan Pāhuḍa* (gāthā 24-28) :—

'पंच सए छब्बीसे विक्कम रायस्स मरणपत्तस्स ।
दक्खिण महुरा जादो द्राविडसंघो महामोहो ॥' २८

Dhavalā-ṭīkā also calls this Vikram Rāyā as *Shak* King in the following manner :—

"भट्टारएण टीका लिहिएसा वीरसेणेण ।
अठतीसम्हि सतसए विक्कमरायं किएसु सगणामे ।
वासे सुते रसीए भाणु विलग्गे धवलपक्खे ॥"

The Omniscient Period :

Nemichandra, the author of *Triloksāra*, comes to the conclusion that the Omniscience period is 65, 536 (*paṇṇaṭṭhi pañcha sayā chhattisā*) which is the last score in *Sarvadhārā* counting. It is the square figure of number 256. It becomes very important figure in chronology if we take it as the figure of months. The author of *Trilokasāra* recognises the birth of *Vikram* King after 605 years 5 months of *Mahāvīra's* death, and thereafter he mentions the birth of *Kalki* King 394 years 7 months later :

"पणछस्सय वस्सं पणमासजुदं गमिय वीर णिव्वुइदो ।
सगराजो जो कक्की चदुण वतिय महिय सगमासं ॥"

Thus if we affix and suffix the Omniscience period of 65,536 months, or 5461 years 4 months to the above one thousand years

(605.5 + 394.7) the *Kalki* (Sandacottus) period starts 6461 years 4 months after Lord Ṛṣabha's death, the first Omniscient.

The Greek historians have recorded 6462 years from King Dionysus (King *Dushyanta*) to the Sandracottus (*Kalki* ?) including the two periods of 300 + 120 years of dynasty break. They have also recorded the period of 6451 years 3 months between Father Baccus (*Shukrāchārya* ?) and Alexander the Great, which exactly becomes 6461 years 4 months on the coronation of Sandracottus (*Kalki*) during the rign of Seleucus, i.e,, after 10 years 1 months, after the death of Alexander the Great.

Thus abacus calculates the figure of 6803 years 4 months and 15 days if we enumerate the gap of 5800 years between the death of Lord *Ṛṣabha* and Lord *Mahāvīra*+3 years 8 months and 15 days left in the fourth spoke+one thousand years till the *Kalki's* birth. But the figure of 6803 years, four months and 15 days exceeds by 342 years four months and 15 days to above calculation figure of Omniscience period+one thousand years of *Kalki's* birth. Hence we have to accept the appearance of Lord *Ṛṣabha* four hundred years earlier. He might have achieved Omniscience 342 years 4 months and 15 days before his death.

There have been recorded in *Kalpa Sūtra* (147 & 160) the time of *nirvāṇa* of Lord Pārshva and Lord Mahāvīra as under :—

'समणस्सं भगवओ महावीरस्स जाव सव्व दुक्ख प्पहीणस्स नववास सयाइं विइक्कंताइं, दसमस्सय वास सयस्स अयं असीइय संवच्छरे काले गच्छति, वायणंतरे पुण अयं तेणउए संवच्छरे काले गच्छति इति दीसइ ।। १४७'

'पासस्स णं अरहओ जाव सव्व दुक्ख प्पहीणस्स दुवालस वास सयाइं विइक्कंताइं, तेरसमस्सय वास सयस्स अयं तीसदमे संवच्छरे काले गच्छइ ।।१६०'

"That a period of nine hundred years elapsed and this is eightieth year, or according to another calculations, it is the 993rd year since the death of Lord *Mahāvīra*.

Similarly, twelve hundred years expired and thirtieth year is passing since the death of Lord *Pārshva*.

This calculation refers to the composition period of the *Kalpa Sūtra* i.e., *980 years after* the death of Lord *Mahāvīra* (*Veer Nirvāṇam. Tataḥ 980 Pustake nyastaḥ*). Accordingly it was 1230th year after the death of Lord *Pārshva* and *Mahāvīra's* death took place (BVE 723+ 1230=1953—1703 BVE) exactly 250 years later.

Unfortunately, early Jaina texts do not take much interest in describing the life of Mahāvīra. The *Bhagavatī Sūtra* is the only early work giving some details. However, it also does not record his death.

Buddhist texts, i.e., *Majjim Nikāya, Sāmāgama Sutta,* (3.14), *Dīgha Nikāya, Pāsādika-Sutta* (3.6) and *Dīgh Nikāya Paryāya Sutta* (3.10) mention the departure of Lord Mahāvīra and the record obviously infers that the *Buddha* was living at the time of *Mahāvīra's* death.

In this way *Mahāvīra* era begins from 1703 before *Vikram* era and we should reconstitude Indian history in that light because it is authenticated by the Purāṇas and Indian tradition.

Mahāvīr Jayanti, 2050 V.E.
Jaina Vishva-Bhāratī
Ladnun (India).

—Parmeshwar Solanki

THE MAHĀVĪRA ERA

● *Dr. Parmeshwar Solanki*

Dr. Jacobi regards 477 B.C. as the date of Mahāvīra's *Nirvāṇa* and 484 B.C. as that of Buddha's *Nirvāṇa*. But he refrains from giving any specific indication throughout his essay why it became inevitable for him to accept these dates. He simply says[1] "though according to the unanimous traditions of the Jaina, Candragupta's accession took place 215 years A.V. (after the death of Mahāvīra), in accordance with the view propounded by Hemacandra, (*Pariśiṣṭa Parva*, 8-330) Candragupta acceded to the throne in 155 A.V." Dr. Jacobi has supported his view by citing another Jain work, *Kahāvalī*, of Bhadreśvara.

Now, the fact is that, as stated by Dr. Jacobi, it is unanimously accepted in all the Jain traditions that Candragupta's accession took place only 215 years after the *Nirvāṇa* of Mahāvīra and not 155 years, as accepted by Ācārya Hemacandra.[2] The view of Ācārya Hemacandra would prove baseless, if tested on the touchstone of history. Also, the scholars have regarded it as a great blunder committed by Ācārya Hemacandra. The most substantiated opinion in this regard is that[3] a king named Pālaka was enthroned at Ujjain the very day on which Mahāvīra attained *Nirvāṇa*. He (or his dynasty) reigned for 60 years. After this, Nandas ruled for 155 years. Then ensued the Mauryan rule, that is to say Candragupta Maurya was enthroned 215 years after the death of Mahāvīra. This allusion has been extracted from '*Titthogati Paiṇṇaya*' which is supposed to be much older than both the books viz. *Kahāvali* of Bhadreśvara and *Pariśiṣṭa Parva* of Hemacandra.

It seems that the period of 60 years of the reign of Pālaka has completely been omitted in the calculation of Hemacandra's *Pariśiṣṭa* Parva. Mr. Purna Chandra Nāhar and Mr. Krishna Chandra Ghosh, write[4] "Hemacandrāchārya must have omitted by oversight to count the period of 60 years of King Pālaka after Mahavira's Nirvāṇa."

Dr. Jacobi has edited *Pariśiṣṭa Parva*.[5] He has observed in the preface to it that Hemacandrācārya had composed that work in haste, as a consequence of which the work is studded with errors. Elaborating the subject in the preface itself, Dr. Jacobi has illustrated several compositional and grammatical errors committed by

Hemacandra with concrete evidence. It is quite probable that the verse on the basis of which Dr. Jacobi has inferred the date of Mahāvīra's *Nirvāṇa*, might have also been composed with the same carelessness. The date of Mahāvīra's *Nirvāṇa* accepted by Hemacandrācārya him-self, while stating the period of his own contemporary King Kumārpāla is 527 B.C., and not 477 B.C. Hemacandrācārya writes in *Triṣaṣṭiśalākāpuruṣacaritra*,[6] "When 1669 years will have been completed after the death of Mahāvīra, there will flourish a King named Kumārapāla who will shine like a moon of Cāulukya dynasty". Now it is unanimously accepted that Kumārapāla's accession took place in 1142 A.D.[7] But according to Hemacandrācārya, the interval between this event and the date of Mahāvīra's *Nirvāṇa* is 1669 years. In this way, Hemacandrācārya himself has also accepted 1669—1142=527 B.C., as the date of Mahāvīra's *Nirvāṇa*.

2. Chronology of Mahāvīra :

This date[8] (527 B.C.) is substantiated by an extraordinary evidence : History accepts 322 B.C. as the date of the accession of Candragupta Maurya to the sovereignty of Magadha.[9] The historians call this date a 'Light-house' in that dark period of Indian history.[10] They decide the chronology of hundreds of years, posterior and prior to this period, on the basis of this unanimously accepted and definitely verified date. According to the chronology adopted by some ancient Jain traditional works, such as *Titthogāli Paiṇṇaya, Titthoddhāra Prakraṇa*, Merutuṅga's *Vicāra-Śreṇī* etc., the event of Mahāvīa's death had taken place 215 years before Candragupta's accession. It should also be remarked here that the above works speak of Candragupta's accession to the throne of Avanti, and not that of Magadha. It is also a historical fact that in 312 B.C. (i.e., 10 years after Candragupta's accession to the throne of Magadha) Candragupta acquired the Kingdom of Avanti.[11] Thus, the Jain chronology and the historical chronology endorse each other and the date of Mahāvīra's *Nirvāṇa* is confirmed in 312+215=527 B.C.

3. The Vikrama Era :

The above date of Mahāvīra's *Nirvāṇa* is also supported by the historical dates of Vikrama, Shaka and Gupta eras. The ancient chronicles and works of the Jain tradition state that Mahāvīra's *Nirvāṇa* took place 470 years before the commencement of the Vikrama era.[12] According to the unanimous opinion of historians, the Vikrama era started in 57 B.C.[13] This clearly implies that Mahāvīra attained the *nirvāṇa* in 57+470=527 B.C.

4. The Shaka Era :

According to both the traditions of Jains—*Śvetāmbara* and *Digambara*, the shaka era commenced 605 years and 5 months after Mahāvīra's *Nirvāṇa*.[14] According to history, the Shaka era started in 78 A D.[15] Hence, the date of Mahāvīra's *Nirvāṇa*, comes out to be 605—78=527 B.C.

5. Astrological Calculations :

The learned Ācāryas of Terāpantha have also accepted 527 B.C. as the date of Mahāvīra's *Nirvāṇa*. They have supported their belief by the astrological calculations. According to the Jain scriptures, at the time of Mahāvīra's death, an asterism of ashes (*Bhasma-graha*) entered into the sign of Zodiac under which Mahāvīra was born (the birth-*rāśi*) and it continued to stay for 2000 years.[16] According to the fourth Ācārya of Terāpantha, Srimaj Jayācārya, that asterism left the sign of Zodiac of Mahāvīra's birth in the year 1531 of Vikrama era.[17] Again, the scriptures have predicted that a comet (*Dhūmaketu*) of duration of 333 years, will set in, 1990 years after Mahāvīra's death.[18] According to Srimaj Jayācārya,[19] the comet left the sign of Zodiac of Mahāvīra's birth in the year 1953 of Vikrama era. On the basis of the above two astrological evidences, we reach 527 B.C. as the date of Mahāvīra's *Nirvāṇa* as follows :—

Total duration of asterism of ash	—	2000 years
Date of its leaving the birth-*rāśi*	—	1473 A.D.
Date of Mahāvīra's *Nirvāṇa*	—	527 B.C.

Similarly, 1990+333 years after Mahāvīra's death, the comet left the birth-*rāśi*, so that total duratjon of comet is 2323 years—Date of its leaving the birth-*rāśi* 1796 A.D. and date of Mahāvīra's *Nirvāṇa*—527 B.C.

But anyhow the date is negligent and we shall point out that the date arrived at by us for the *Mahāvīra Era* is 1761 B C. and it is supported by a mass of evidence, which we shall now discribe.

6. A New Approach :

The traditional date of 527 B.C. is based on the assumption that Mahāvīra attained *Nirvāṇa* 470 years before the beginning of Vikrama Era (i.e. 58 B.C.) which is erroneous on the basis of the ancient chronology described in the Purāṇas and older Jain works and substantaited by epigraphic evidence. The new approach shows that Mahāvīra attained *Nirvāṇa* 1703 years before the beginning of the Vikrama era (i.e. 58 B.C.) and hence the date of *Nirvāṇa* of Bhagawān Mahāvīra should be 1761 B.C. The date of the Mahābhārata war,

according to this chronology is 3101 B.C. (i.e. 3043 before the Vikrama Era). If the difference between the dates of *Nirvāṇa* of Mahāvīra and Buddha is considered to be 23 years, the date of the Buddha's *Nirvāṇa* is 1738 B C. (or 1680 years before Vikrama Era).

The following are the main evidence :

I. King Khārvela of Kaliṅga started a new Era under the name of "Vikrama Era" in the 10th year of his reign, on the occassion of "appointment of his successor-designate : This according to the Jain sources refers to the first Vikrama era which is 470 years after the Bhagawān Mahāvīra's *Nirvāṇa*. This date of Khārvela is 1233 years before the prevalent Vikrama Era[20] (i.e. 58 B.C.) or 1291 B.C. Thus the date of *Nirvāṇa* of Mahāvīra is 1233+470=1703 years before Vikrama era of 58 B.C.

II. Another coroboration of the date is available from the first "Shaka era" which according to the Jain sources,[21] was established 605 years and 5 months after the Mahāvīra's *Nirvāṇa* and 135 years after the first Vikrama era i.e. in 1098 years before the prevalent Vikrama era (58 B.C.). It was a shūdra king "Shūdraka" who started this Shaka Era.[22]

III. A third proof is obtained by the date of King Vipra Shūdraka of Ujjain and the author of "*Mudrārākshasa Prakaraṇa*". According to the Jain sources[23] the king was the first "Kalki King" who started the era in his own name 1005 years after Mahāvīra's *Nirvāṇa*. The second *Kalki* King was *Chaturmukha Kalki*. of (the son of) Indragupta who prevailed 1000 years after the first *Kalki* King. He died at the age of 70 and ruled for 21 years+21 years in two parts—first as Sohatra Sogisoma, the son of Jayasoma (Indra); and second, after ruling for 21 years, he made a "*atisatra*" (religious sacrifice) of 61 nights at *Nandsā Taḍāga* (tank) and made an assembly of kings, declaring himself as "Commender-General" and ruled for 21 years more as the Commander-General.[24] His rule ended in *Krita Samvat* 301 (which is the same as prevalent Vikrama Era of 58 B.C.).

Thus, these documents and allusions are more ancient and authentic than those furnished by the works of Merutuṅga and Hemachandra. It seems that after the 10th century (of Vikrama Era) the date of Mahāvīra's *Nirvāṇa* was erroneous considered to be 470 years before the Vikrama era (58 B.C.) and thus the date 470 before Kṛt Vikrama or 527 B.C. became prevalent in the Jain tradition. Therefore one should utilise the later records (after 10th century) very cautiously.

7. The following evidence form the basis of this new approach to Indian chronology in general and the dates of Mahāvīra (and

Buddha) in particular :

(i) The traditional Indian chronology shows that the date of *Mahābhārata War* is 3043 years before the advent of the Krit Vikrama Era (58 B.C.) and 3179 years before the advent of the Shālivāhan Shaka Era (78 A.D.) equivalent to 3101 B.C.

The astrologers[25] have given this date in their ancient works.

(ii) The "astrological calculations" pertaining to the beginning of *"Vasanta"* (spring)[26] in the time of *Mahābhārata* was done in *Rohiṇī Nakśatra* (the fourth lunar mansion). After that, the beginning of *Vasanta* (spring) took place respectively in *Krittikā* (the 3rd lunar mansion), *Bharaṇi* (the 2nd lunar mansion), *Ashvini* (the 1st lunar mansion) and *Revatī* (the 27th or the last lunar mansion). Now, at present, the spring beginning is in *Uttarā Bhādrapada*, the 26th lunar mansion. For every lunar mansion or constellation, it takes 1000 years to complete the spring-beginning. For 5 lunar mansions, the period comes out to be 5000 years.

(iii) The Usra Major (i.e. Seven star group—*Saptarshi Maṇḍal*[27] changes a constellation after every 100 years. The total no. of constillation is 27. At the time of *Mahābhārata*, the Usra Major was in *Maghā Nakśatra* (10th lunar mansion). It means that the group has changed remaining 18 lunar mansions and a full cycle of 27 lunar mansions, and in the third round has changed 5 lunar mansions and entered in the second half of the 6th lunar mansion (viz. *Ārdrā*). Thus 5050 years have elapsed since *Mahābhārata*.

(iv) Hariswāmi (V.E. 696) says that he finished his Commentary on *Śatpatha* 3740 years after the *Mahābhārata* or beginning of *Kali* age.[28a] Thus 3740—697=3043 years before *Krit.* vik. Era.

(v) Ravikīrti (v.e. 691), the poet and writer of the eulogy (*prashasti*) in the Jain Temple at *Aihole* at the time of king Pulakeshin II of Chaulukya Dynasty, says—"when 556 years of the Shaka Era passed, 3735 years elapsed from *Mahābhārata*.[28b]

(vi) A copper plate (*Tāmrapatra*) of V.E. 647 of king Bhāskarvarmā of *Prāgjyotishapura* who was in the 12th generation of *Puṇyavarmā*, refers to a period of 3000 years[29] from king Bhagadatta (who fought in the Mahābhārat war) upto king *Devabhūpa* or *Puṇyavarmā*. Thus it substantiates the date of *Mahābhārata* in 3043 B.V.E.

(vii) The calculation of 3043 years[30] from *Mahābhārata* upto the beginning of the *Krit Vikrama Samvatsara* is given in *Vāyu Purāṇa, Matsya Purāṇa, Vishṇu Purāṇa* etc. which undoubtedly makes clear the whole chronology. According to this,

1500 years passed between Parikshit and Mahāpadma Nanda.
836 " " between accession of Mahāpadma Nanda & End of Āndhra Rule.
(96 or 706 years passed upto the end of Kolikil's rule and starting of Vikrama Era.

Thus the total years come out to be 3042 (or 3032).

(viii) A very clear evidence is obtained from Kañchu Yallārya's *Jyotish Darpaṇa*.[31] The verses give us an account of two *Kalki's* who are referred to in the Jain works.[32] The first *Kalki* was Vipra Shūdraka of Ujjain who flourished 1005 years after Mahāvīra's *Nirvāṇa*. He was followed by :

Pālaka Rule	60 years
Vijaya Dynasty	155 years
Bherunda	40 years
Pushyamitra	30 years
Vasumitra & Agnimitra	60 years
Gandharvasena Rule	100 years
Naravāhan	40 years
Āndhra Bhritya	242 years
Gupta Dynasty	231 years
Total—	958 years

Then prevailed the second *Kalki* king *"Indraputra chaturmukha"*, who ruled for 21+21 years in two terms. He belonged to the Ugra Dynasty *Mālav* Dynesty of Ikshvāku Dynasty.[33] The second reference of Kañchu yallārya is of Shūdra King Shūdraka, about which we have already discussed above. The Shaka Era started by him 1098 years B.V.E. and 605 years A.M.N. (after Mahāvīra *Nirvāṇa*).

8. The second Shaka Era started in the year 543 before the Krit Vikrama i.e. 601 B.C. by Vinaymitra Dewal, king of Khotān who overruled the whole of upper India and issued coins, marked with Lord Śiva and his consort *Umā* or their son *Skandakārtikeya*. His gold coins are marked with Śiva on *Nandī* (the bull) and the king on Elephant and engraved "महरजस राजधिरजस सर्वलोग ईश्वरस महिश्वरस ।"

Three hundred years later i.e. 301 B.C. rose a powerful dynasty on the ashes of the Āndhra empire with their seat at Pātaliputra and that was Gupta Dynasty. Al Beruni, the famous historian says, "the epoch of the Gupta's falls like that of the Vallabha Era, 241 years later than *Śakakāla*" (Al Beruni's India, Sachau, II p. 7). It means that G.E. as well as Vallabha Era fell 241 years later than *Śakakāla*. Al Beruni has compared the beginning of G.E. with the beginning of

Vallabha Era and according to him both the eras started 241 years later than Śaka Kāla of 543 B.C. and another Śakakāla of 78 A.D. i.e. 543—241=302 B.C. and 78+241+319 A.D.

Pliny (VI, 21, 22, 23) says that at the time of Alexander's invasion Āndhras were reputed to possess a military force second only to that of the command of the king of the Prasii. The Āndhra territory included thirty walled towns, besides numerous villages and the army consisted of 100,000 infantry, 2000 cavalry and 1000 elephants."

This description of Āndhra power cannot agree with a Sandracottus' identification with Chandragupta Maurya. But it can very well apply to the days of Samudra Gupta and Chandragupta I, the mighty Āndhras has just gone down. Before the rise of Guptas, Āndhras were very powerful. In fact according to the *Purāṇas*, Āndhras were the Imperial rulers, who just preceded the Guptas. It was almost on the ashes of the Āndhra empire, that the Guptas built up their empire.

It is said that Seleucus invaded Indian border between 304 and 302 B.C. Plutarch's phrase "by that time" would suggest that Sandracottus had come to throne recently when Seleucus invaded the Indian border. And this Sandracottus is Samudragupta of Gupta dynesty, whose every king attached the family name "Gupta" as a part of his personal name, as Strabo says that according to Megasthanes "the king in addition to his family name must adopt the surname of Palibothras, as Sandracottus for instance did."

So the first Shaka Era started 1098 years B.V.E., the second Devaputra Saka Communicate with 543 BVE and the third Sālivāhan Shaka begins from VE 135 or 78 AD while krit Vikram Era starts from 57 BC, In this way the whole of Northern India was under the sway of Devaputra Śaka of Khotān during the six centuries B.C. while the Southern India was governed by Āndhra and the Western parts of our country were then occupied by the nominees of Roman empire simultaneously. This is also evident from the story of Shaka Kshatrapas migrated to India in the days of Darius. Herodotus, the Greek Historian who had lived at his court, writes in his history.[34]

"A great part of Asia was explored under the direction of Darius. He being desirous to know in what part the Indus, which is the second river that produced crocodiles, discharges itself into sea, sent in ships both others on whom he could rely to make a true report and also Skylax of Caryanda (a fellow-countryman of Herodotus). They accordingly, setting out from the city of Caspatyrus

and the country of Pactyia, sailed down in the river towards the east and Sunrise to the seas. Then sailing on the sea westward, they arrived in the thirtieth month at that place where the king of Egypt despatched the Phoenicians, whom I, before, n entioned, to sail round Libya. After these persons had sailed round, Darius subdued the Indians and frequented the sea."

Naqsh-i-Rustum Inscription of Darius distinguishes the following three types of Shakas, all of whom were under him *Śakaḥ Somavargaḥ*, *Śakaḥ Tigrakhaṇḍaḥ* and *Śakaḥ Taradargaḥ*. The third type of Sakaḥ Taradargaḥ. i.e. Shakas across the ocean were the śakas who lived in India and they were the *Kṣatrapas*. They had favoured Jainism. Uṣavadata Nahapāna seems to have taken to Jainism. Nahapāna is particulary mentioned as a separate king in Jain chronology.

Now Darius ruled C. 526 to 486 B.C. and the firsl Kalki ruled in 699 B.V.E. or 756 B.C. There after 445 years (60+155+40+30+60+100) Naravāhana begins his reign, just 175 years after the king Darius (died in 486 B.C.).[35]

9. Conclusion : Conclusively, it is clear that our chronology has been adjusted at different periods, perhaps omitting the kingless periods and setting right the prevalent intervals (between the two major events). It seems a case particularly followed in Jain chronology.

However it is now high time to reconsider and redress the chronology and reconstruct our ancient Indian History. The date of Mahāvīra s *Nirvāṇa* is definitely B.C. 1761 and Buddha *Parinirvāṇa* took place 23 years later i.e. 1738 B.C. and these days may be called the "light house" for the reconstruction of our history.

FOOT NOTES

1. श्रमण Vol. XIII Nos. VI-VII, 1962 Banāras, p. 10.
2. एवंच श्री महावीर मुक्तेर्वर्षशते गते ।
   पञ्चपञ्चाशदधिके चन्द्रगुप्तोऽभवन्नृपः ।।
   —परिशिष्ट पर्व, ८.३३९.
3. तित्थोगाली पइन्नय, ६२०-२१.
4. *Epitome of Jainism*, Appendix-A, IV.
5. Published by *Asiatic Society*, Calcutta.
6. अस्मन्निर्वाणतो वर्षशतान्यभय षोडश: ।
   नवषष्टिश्च यास्यन्ति यदा तत्र पुरे तदा ।।
   कुमारपालो भूपालश्चौलुक्यकुलचन्द्रमाः ।
   भविष्यति महाबाहुः प्रचण्डाखण्डशासनः ।।
   —त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, पर्व १०, अध्याय १२, श्लोक ४५-४६.

7. *An advanced History of India* by R,C. Majumdar, H.C. Ray Chaudhuri and K.K. Datta, P. 202.

8. Many an authoritative historians and scholars have approved this date; See for example,
   (a) Mahāmahopādhyāya Rāyabahādura Gouri Śankara Ozha *Jain Satya Prakash*, Vol. II Nos. IV-V P.P. 217-81.
   (b) Dr. Baladeva Upādhyāya, *Dharma Aura Darshan* p. 89.
   (c) Dr. Vasudeva Sharaṇ Agrawal, *Tirthaṅkar Mahāvīra*, Vol. II, Preface, P. XIX.
   (d) Dr. Hiralal Jain, *Tattva Samuccaya*, p. 6.
   (e) Mahāmahopādhyāya Pt. Vishveshar Nāth Reu : ***Bhārat Ke Prāchīn Rājvaṁśa***, part II p. 436.

9. Candragupta Maurya and his Times, by Dr. Radha Kumud Mukherjee, pp. 44-46; *Bhārat Kā Bṛhat Itihāsa*, Part I (Prāchīn Bhārat), by Shrinetra Pāndeya, 4th Edition, P. 242.

10. To these sources, Indian history is also indebted for what has been called the sheet-anchor of its chronology, for the starting point of Indian chronology is the date of Candragupta's accession to sovereignty.
    —*Candragupta Maurya and His Times* by Dr. Radha Kumud Mukherjee, p. 3. Also, see, Ancient India by Rapson, p.p. 20-21.

11. (a) The date 313 B.C. for Candragupta's accession if it is based on correct tradition, may refer to his acquisition of Avanti in Mālva, as the chronological datum found in a verse, where the Maurya king finds mention in the list of successors of Pālaka, the king of Avanti.
    —*Political History of Ancient India by* Dr. H.C. Raychaudhuri.
    (b) The Jain date 313 B.C., if based on correct tradition, may refer to his acquisition of Avanti (Malva).
    —*An advanced History of India*, by Dr. R.C. Majumdar, Dr. H.C. Raychauduri, K.K. Datta, p. 99.
    (c) Although the date 313 B.C. for Candragupta's accessian is based on correct tradition, it refers to his victory over Mālva or Avanti, because the verse, in which this chronology is adopted, mentions, Candragupta in the list of the successors of king Pālaka of Avanti.
    —Shrinetra Pāndey, *Śramana*, Vol. XIII Nos. VI-VII 1962, pp. 245-246.

12. (a) *Jam rayanim Kālngo, arihā titthaṁkaro mahāvīro.*
    Tam rayanim avantivai, ahisitto pālso rāyā ||1||

Satthi Pālayaraṇṇo (60), Panavannasayam tu hoi nandānām (155)
Aṭṭhasayam muriyānam (108), tīsa cciya pusamittass a (30) //2//
Balamitta-bhanumitta satthi (60), vari-sāni catta (4) nahavane
Taha gaddabhilla-rajjam terasa (13), varisa sagassa cau (varis) (4) //3//

Sri Vikramādityaśca pratibodhitastadrājyam tu Śrī Virasptati catustaye (470) samjātam"

—Tappāgaccha Pattavali by Dharmasāgara Upadhyaya (Ed. and Tr. by Pāṇyas Kalyan Vijayji), pp. 50--52.

(b) *Vikramarajjarambha parao siri vira nivvui bhaniya !*
Sunna muniveda jutto vikkama kalau jinakalo !!
Vikramakalajjinasya virasya kalo jinakalah sunyah (O), muni (7), veda (4) yuktah ! Catvarimstani saptatvadhikavarsani srimahavira-vikramandityayorantaramityarthah Nanvayam kalah viravikram-ayoh katham genyate, ityaha vikramarajyarambhat paratah pascat sriviranirvanadinadanu, bhanita ! Ko bhavah sriviranirva-nadinadanu, 470 varse vikramadityasya rajyarambhadinamiti !
—Vichāra śreṇī by Merutuṅga, pp. 3,4.

(c) *Punarmannirvanat saptyadhikachata satavarse (470) Ujjayinyam srivikramadito raja bhavisyati.....svanamna ca samvatsarapra-pravrtim karisyati !*
—Sri Saubhagyapancamyadiparvakathasamgraha, Dīpamalika Vyākhyāna, pp. 56-57.

(d) *Mahamukkha gamanao palaya-nanda-candaguttairaisu bolinesu causaya satterahim vikkamaicco raya hohi ! Tattha sātthi varisanam palagasau rajjam, panapannam nandanam, atthottars sayam moriyam vamsanam, tisam pusamittassa, satthi, balamitta-bhanumittana, calisam naravahanasya, terasa gadda-bhillassa, cattari sagassa Tao vikkamaicco !*
—Vividha tīrthakalpa (Apapabrahat-Kalpa), pp. 38-39. (Quoted in the contemporaneity and the chronology of Mahāvīra and Buddha by Muni Shri Nagrajji, 1970 p. 85).

13. *An advanced History of India,* p. 118 (by R. C. Majumdar, H. C. Raychaudhuri, K.K. Datta).
14. *Titthogaliya Paiṇṇaya,* verses 620-623.
15. *An advanced History of India,* p. 120.
16. *Kalpa sūtra,* Vs 129 (S.B.E: Vol. XXII).
17. *Bhrama-vidhvaṁsaṇam,* preface.
18. Baṅkacūliā.
19. चौपड़ा ईसरचन्द्र द्वारा संपादित भ्रमविध्वंसनम् द्वितीय आवृत्ति, कलकत्ता, सं० १९८०, पृ० १४-१५—"सारांश यह है कि भगवान् के पश्चात् २९१ वर्ष पर्यन्त

शुद्ध प्ररूपणा रही और पश्चात् १६९९ वर्ष पर्यन्त अशुद्ध बाहुल्य प्ररूपणा रही। अर्थात् दोनों को मिलाने से १९९० वर्ष हुआ। उस समय धूमकेतु ग्रह ३३३ वर्ष के लिए लगा। विक्रम संवत् १५३१ में "लूंका" मुंहता प्रकट हुआ। २००० वर्ष पूर्ण हो जाने से भस्म ग्रह उतर गया। इसका मिलान इस प्रकार कीजिये कि ४७० वर्ष पर्यन्त नन्दीवर्द्धन शाका और १५३० वर्ष पर्यन्त विक्रम संवत् एवं दोनों को मिलाने से २००० वर्ष हो गये।"

It may be Halley's comet that orbitting round the sun in every 76.1 year's period. Accordingly its arrival does not occur in the year 526 B.C; but its 27th round must have been seen in the year 3:0 B.C., if the year of Mahāvīra's *Nirvāṇa* was 1761 B.C.

Bhattotpal, the famous commentator on *Bṛhat Samhitā*, quotes occurences and durations of some comets. Accordingly the *Bhasma-graha* i.e. *Paitāmah Chalketu* and its follower *Kāśyap Śvetketu* orbit the sun in every 1500 years simultaneously, one after another and the Kaliketu (Lūṅka) predates them by its duration of 300 years and a months only.

20. In the 10th line of the *khārvela*'s *Hāthigumphā* Inscription it is said "दसमे च वसे कलिंग राजवसाने ततियंयुगे सगावसाने कलिंगयुवराजनं वासकारं कारापयति।"

This can be interpreted as—"In the 10th year, King Khārvela, made his son vāsakāra (Vāsuka) successor-designate. At that time, Cheti dynastey had completed three *yugas* (i.e. the reign of Erasa Mahārāja, Kalingādhipati Mahāmeghavāhana and Kuḍepsiri) and most probably the death of Mahārāja Kuḍepsiri might have occurred, so it was the end of an epoch (सगावसान), This event was marked by starting of an era which is referred to as having taken place 470 years after Mahāvīra's *Nirvāṇa*.

Now, the date of Khārvela is inferred from the reference that in Kaliṅga three dynasties reigned after the advent of Kali Age, (c.f. Babu Bhavanichandra Bandyopādhāya's *"Puruṣottom Chandrikā*—Shri Kshetra Dharmer Bikhan", published in 1843, which is in a palmleaf MS kept in Jagannāth Temple at Orissa).

The third dynasty-Cheti got the power in 1407 B.C. after 116 years of reign by Erasa Mahārāj, Kalingadhipati Mahāmeghavāhana and Mahārāj Kuḍepsiri the era was started in 1291 B.C.

Again according to Lama Tārānāth (History of Buddhism, Patna, 1971, p. 47) Puśyamitra *Śuṅga* died 500 years after Buddhas' *Nirvāṇa*.

२१. (i) पणछस्सयवस्सं पणमासजुदं गमिय वीरणिव्वुइदो।
सगराजो ततो कक्की चतुणवतियमाहिय सगमासं॥
—त्रिलोकसार, गाथा-८५०

(ii) निव्वाणे वीर जिणे, छव्वाससरेसु पंचवरिसेसुं।
पणमासेसु गदेसुं संजादो सगणिओ अहवा॥
—तिलोयपण्णत्ती, गाथा १४९९

(iii) पंचयमासा पंचयवासा छच्चेव होंति वाससया।
सग कालेण य सहियाथाने पव्वो तदो रासी॥
—धवलाटीका

२२-२३. (i) कल्यब्दारूपरहिता पाण्डवाब्दाः प्रकीर्त्तिताः॥
बाणाब्धिगुणदस्रोना २३४५ शूद्रकाब्दा कलेर्गताः॥१॥
गुणाब्धिव्योम रामोना ३०४३ विक्रमाब्दा कलेर्गताः॥
—कंचुयल्लार्य भट्ट विरचित "ज्योतिषदर्पण," पत्रक २२ (अनूप संस्कृत लाइब्रेरी, बीकानेर, एम.एस. नं० ४६७७)।

(ii) तिलोयपण्णत्ती, गाथा १५१० (शोलापुर संस्करण)

24. (i) Maru Bhāratī—Research Journal, Pilani, Vol. 36, No. 4, "Rājasthān Pradesh kā pratham Gan-pramukh-Sohatra Sogi Soma"—Lekh (E.I.27/4 no. 43)

(ii) *Trilokasāra*, gs. 845, 851-856.

25. The Mahābhārata Era or the Pāṇḍavābda or the Kali Age Era started in 3101 B.C. This is calculated by Āryabhaṭṭa (Dashā-giṭikā, 3 and Kālakriyā, 10), Vriddha Garga (quoted by Varāhamihira in *Bṛhat Samhitā* (13.3), Kanchuyallārya Bhaṭṭa (*Jyotish Darpaṇa*, P. 16), Varāhamihira (Pañcha Siddhāntṭikā), Bhāshkarāchārya (Siddhānt Shiromaṇī) and European Astrologer Beilly (quoted in Aciatic Researches No. 7 & 9)

२६. श्रावणस्य च कृष्णस्य सावार्थं दशमी पुनः।
रोहिणी सहिते सोमे स्याद् दक्षिणायनम्॥
यदा माघस्य शुक्लस्य प्रतिप्रद्युन्तरायनम्।
सहोदयं प्रविष्टाभिः सोमार्कौ प्रतिपद्यतः॥
—महाभारत, अनुशासनपर्व, अध्याय-६३

२७. (i) सप्तर्षयस्तु तिष्ठन्ति पर्यायेण शतं शतम्।
सप्तर्षीणां युगं ह्येतद् दिव्यया संख्यया स्मृतम्॥
(ii) यैश्चारमहं तेषां कथयिष्ये वृद्धगर्गमतात्॥
आसन्मघासु मुनयः शासति पृथ्वी युधिष्ठिर नृपतौ॥
—बृहत्संहिता, २३.२-३

२८. (a) श्रीमतोऽवन्तिनाथस्य विक्रमस्य क्षितीशितुः।
धर्माध्यक्षो हरि स्वामी व्याख्यां कुर्वे यथामति॥

यदाब्दानां कलेर्जग्मु सप्तत्रिंशच्छतानि वै
चत्वारिंशत्समा श्चान्यास्तदा भाष्यमिदं कृतम् ॥
—हरिस्वामी कृत शतपथभाष्य (एम० एस०) वि० सं० ६९६

(b) त्रिंशत्सु त्रिसहस्रेषु भारतादाहवादितः ।
सप्ताब्दशतयुक्तेषु गतेष्वब्देषु पंचषु ॥
पंचाशत्सु कलौकाले षटसु पंचशतासुच ।
समासु समतीतासु शकानामपि भूभुजाम् ॥
—ऐहोले-प्रशस्ति (रविकीर्ति) वि० सं० ६९१

२९. तस्माददृष्ट नरकान्नरकादजनिष्ट नृपतिरिन्द्रसखः ।
भागदत्तः ख्यात जयंविजययुधियः समाह्वयत् ॥५॥
तस्यात्मजः क्षतोर्वञ्जदत्त नामाभूत् शतमखम् ।
खण्ड लवत्मतिरतोपवद् यः सदा संख्ये ॥६॥
वंश्येषु तस्य नृपतिषु सहस्रत्रयं पदमवाप्य ।
यातेषु देवभूपं क्षितीवरः पुण्यवर्माऽभूत् ॥७॥
—ई० आई० २९.१३-१४

३०. यावत्परिक्षितो जन्म यावन्नंदाभिषेचनम् ।
एवं वर्ष सहस्रंतु ज्ञेयं पंचशतोत्तरम् ॥
× ×
महापद्माभिषेकात्तु यावज्जन्म परिक्षितः ।
एवं वर्ष सहस्रन्तु ज्ञेयं पंच शतोत्तरम् ॥
पौलोमास्तु तथान्ध्रास्तु महापद्मान्तरे पुनः ।
अन्तरं शतान्याष्टौ षड्विंशन्तु समास्तथा ॥
तावत्कालांतरं भाव्यमान्ध्रान्तादापरिक्षितः ।
भविष्ये ते प्रसंख्याताः पुराणज्ञैः श्रुतर्षिभिः ॥
× ×
एतत्कालमनुप्राप्ताः प्रजाः कलियुगान्तके ।
क्षीणे कलियुगे तस्मिन्दिव्ये वर्ष सहस्रके ॥
निश्शेषास्तु भविष्यन्ति सार्धं कलियुगेन तु ।
स संध्यांशेतु निःशेषे कृतं वै प्रतिपत्स्यते ॥
तच्छिन्नेन तु कालेन ततः कोलिकिलानृपाः ॥
ततः कोलिकिलेभ्यश्च विंध्यशक्तिर्भविष्यति ॥
समाः षण्णवतिं ज्ञात्वा पृथिवींच समेष्यति ॥
× ×
"तेषूत्पन्नेषु कैङ्किला यवना भूपतयो भविष्यन्त्यमूर्द्धाभिषिक्ताः ॥५०॥
तेषामपत्यं विंध्यशक्तिस्ततः पुरंजयस्तस्माद्रामचंद्रस्तस्माद्धर्मवर्मा

ततो बंड्बरस्ततो भूनन्दनस्ततस्सुनन्दी तद्भ्रातानन्दियशाशुक्रः प्रवीर
एते.वर्ष शतं षड्वर्षाणि भूपतयो भविष्यंति ।।५६।।

—वायुपुराण (अध्याय ९९), मत्स्यपुराण (अध्याय २७२)और विष्णुपुराण (४.२४)

३१. बाणाब्धिगुण दस्रोना २३४५ शूद्रकाब्दा गतेगलिः ।
गुणाब्धि व्योमरामोना ३०४३ विक्रमाब्दाः कलेर्गताः ।।

—कंचु यल्लार्य (ज्योतिष दर्पण)

३२. एवं वस्स सहस्से पुह पुह कक्की हवेई एक्केको ।

—तिलोय पण्णत्ती, गाथा—१०९८

33. Description of Kalki is available in Jain *Harivamsh* (60.490-92). *Tiloyapaṇṇatti* (97-99) and *Trilokasāra, Uttarapurāṇa* etc.

(i) शतं रासभराजानां नरवाहनस्यततः ।
चत्वारिंशत्ततो द्वाभ्यां चत्वारिंशच्छतद्वयम् ।।४९०।।
भद्रवाणस्य तद्राज्यं गुप्तानां च शतद्वयम् ।
एक विंशश्च वर्षाणि कालविद्भिरूदाहृतम् ।।४९१।।
द्विचत्वारिंशदेवातः कल्किराजस्य राजता ।।

(ii) नरवाहनो च चालं ततो भत्थट्ठणा जादा ।।९७।।
भत्थट्ठणाणो कालो दोण्णि समाई हवंति बादाला ।
ततो गुप्ता ताणं रज्जो क्षण्ण सयाणि एगितीसा ।।९८।।
ततो कक्की जादो इदसुदो तस्स चडमुखोणामो ।
सत्तरिवरिसा आउं विगुणिय इगवीस रज्जतो ।।९९।।

(iii) पण छस्सयवस्सं पणमास जुदं गमियवीर णिव्वुइदो ।
सगराजो ततो कक्की चदुणवतिवमहिय सगमासं ।।८५०।।

× ×

सो उम्मग्गाहिमुहो उवम्मुहो सदरिवास परमाऊ ।
चालीस रज्जओ जिदभूमी पुच्छइ समंतिगणं ।।
अम्हाणं के अवसा णिग्गंथा अत्थि केरि सायारा ।
णिद्धणवत्था भिक्खाभोजी जहसत्थमि दिवयणे ।।
तप्पाणिउडे णिवडिद पढमं पिंडंतु सुक्कामिदिगेज्झं ।
इदि णियमे सचिवकदे चत्ताहारा गया मुणिणो ।।

34. 'Ancient India as described by Herodotus and others'—by Mac Crindle, 1901, p. 45 (quoted by D.R. Mankad, Pauranic Chronology, 1951).

35. Muni Kalyān Vijaya has noted (in his Jain Kālagaṇanā) that in a Ms—*Duḥshimagandikā*, in his possession the following is given :—

"दधिवाहन (नरवाहन ?) राज्य ४० तदा ४१६ तदाच देवपतने चंद्र प्रभजिन भुवनं भविष्यति । अथ गद्दभिल्ल राज्यं ४४ तदनुवर्ष ५० शकवंशाः राजानो जीवदयारता जिनभक्ताश्च भविष्यन्ति ।"

—पृ० ४७७, जैन कालगणना (मुनि कल्याण विजय) । ●

THE DATE OF MAHĀVĪRA

● *Prof. Upendra Nath Roy*

The chronology of ancient India remains disputed to date. The date of the death of MAHĀVĪRA can help in solving problems of chronology but it is also disputed. The date we have got demand adequate analysis and evaluation. The scholars tend to concentrate on part of evidence apparently favourable to their pre-conceived notions and ignore the rest. That is hardly the way to find the truth and resolve a dispute. So we propose to observe and examine the evidence in its different aspects and ignore nothing that is relevant. Omissions are, however, not unexpected but they will show merely the limits of the author's knowledge and not his unwillingness to confront facts.

I. CHANDRAGUPTA AND BHADRABĀHU

The Jaina' tradition mentions a king called CHANDRAGUPTA who got his *dīkṣā* from ĀCHĀRYA BHADRABĀHU, spent his last days at ŚRAVANBELGOLĀ and died the death of Jaina monk. Information about CHANDRAGUPTA and BHADRABĀHU appears relevant to the date of MAHĀVĪRA and therefore deserves discussion.

(i) According to the TILOYAPAṆṆATTĪ, PĀLAKA was coronated in AVANTI the very day MAHĀVĪRA died. The VIJAYA dynasty began 60 years after the event and CHANDRAGUPTA ascended to the throne 155 years later when the VIJAYA dynasty came to an end. The relevant verses (no. 95-96 in the SOLAPUR edition) are :—

जं काले वीरजिणे णिस्सेयस संपयं समावएणो ।
तक्काले अभिविसत्तो पालयणामो अवन्तिसुदो ।।
पालकरज्जं सट्ठि इगिसय पणवएणं विजयसंगवा ।
कालं मरुदयवंसा तीसं वंसातु पुस्समित्तमि ।।

So, it follows that MAHĀVĪRA attained *NIRVĀṆA* 60+155= 215 years before the coronation of Chandragupta.

(ii) According to BHADREŚVARA SŪRI, the Nanda dynasty came to an end 155 A.M. (i.e. 155 years after the death of MAHĀVĪRA) and CHANDRAGUPTA became a king :

एवं च महावीरमुत्तिसमयाओ पंचावणवरिससमे पच्छण्णे नंदवंसे चन्द्रगुत्तो राया जाओ ति ।

HEMACHANDRA (1088-1170 A.D.) in his PARIŚIṢṬA-PARVAN opines similarly, NANDA became a king 60 A.M.

अनन्तरं वर्द्धमानस्वामि निर्वाणवत्सरात् ।
गतायां षष्टिवत्सर्यामेष नन्दोऽभवन्नृपः ॥ VI/243,

And CHANDRAGUPTA became a king 155 A.M.

एवं च महावीरमुक्ते वर्षशते गते ।
पञ्चपञ्चाशदधिके चन्द्रगुप्तोऽभवन्नृपः ॥ VIII/389.

(iii) The TILOYAPAṆṆATTĪ contains another tradition that says the three KEVALINS called GAUTAM, SUDHARMĀ and JAMBŪSVAMĪ followed MAHĀVĪRA during a period of 62 years and thereafter the combined period of five great men is 100 years. The five great men referred to were NANDI, NANDIMITRA, APARĀJITA, GOVARDHANA and BHADRABĀHU. BHADRA-BĀHU was the guru of CHANDRAGUPTA. So both of them were living 162 A.M. (Vide, verses 66-68 and 71-78 of the old edition).

(iv) According to the ŚVETĀMBARA tradition quoted in 'THE HEART OF JAINISM', the names and duration of the ĀCHĀRYA after MAHĀVĪRA are—INDRABHŪTI 12 years, SUDHARMĀ 12 years, JAMBŪ SVĀMĪ 100 years, PARABHAVA 9 years, SVAYAM-BHAVA and YAŚOBHADRA 74 years SABHŪTAVIJAYA 2 years and then came BHADRABĀHU. So BHADRABĀHU became ĀCHĀRYA 209 A.M.

(v) MERUTUṄGA in his VICHĀRAŚREṆĪ of V.S. 1363 says :

जं रयणि कालगओ अरिहोतीर्थंकरो महावीर ।
तं रयणि अवन्तिवै अहिसित्तो पालुगो राया ॥
सट्ठि पालगरण्णो पण्णवण्णासयं तु होइ नन्दाण ।
अट्ठसयं मुरियाणं तीसं पुस्समित्तस्स ॥

King PĀLAKA was coronated at AVANTI the very night MAHĀVĪRA died. PĀLAKA ruled for 60 years, the Nandas 155 years, the Mauryes 108 years and Puśyamitra 30 years.

The first thing remarkable about the tradition is that it does not indicate the dates of birth, coronation and death of Chandragupta in absolute terms. That is true about the dates of birth and death of Bhadrabāhu too. The indication is relative. If we can ascertain the date of Mahāvīra's death, the dates of Bhadrabāhu and Chandra-gupta will be so many years after that. If we can ascertain the dates of Bhadrabāhu and Chandragupta. We shall have to place Mahāvīra's

death so many years earlier. In order to overcome the uncertainty our historians assume that the Chandrgupta of the Jaina tradition is identical with Chandagupta Maurya who is supposed to be a contemporary of Seleucus. I have shown elsewhere that Chandragupta Maurya was not a contemporary of Seleucus.[1] So we have to examine only if Chandragupta Maurya can be reasonably equated with the ruler mentioned in the Jaina tradition.

We have seen above that Hemachandra, Bhadreśvara Sūri and Merutuṅga etc. are not quite unanimous as to the date of Chandragupta (155 or 215 A.M.), but they seem to agree in linking him with Magadha as the Nandas preceded and Puśyamitra followed the Mauryas in Magadha. But these authors (without a single exception) belong to a much later period. So the tradition that links Bhadrabāhu's disciple Chandragupta is undoubtedly later. It is strange, therefore, that scholars like Jacobi and Charpentier rely solely upon them while discussing the date of Mahāvīra.

The evidence that seeks to link Chandragupta with Magadh is not only late, it is far from conclusive. None of the Sanskrit works available to us says Chandragupta Maurya became a Jaina monk. The Pālaka who became a king the very night Mahāvīra passed away is called 'AVANTISUDO' in the earliest relevant work, *Tiloyapaṇṇattī*. The dynasty that followed Pālaka is called not the Nanda dynasty but the Vijaya dynasty there. None of the Purāṇas assigns more than 136 years to the Nandas while the Vijaya dynasty is said to have ruled for 155 years. The dynasty of Chandragupta reigned for 108 years only according to the Jaina works while the Purāṇas assign 137 years to the Mauryas. Puśyamitra reigned for 30 years only according to the Jaina sources while Puśyamitra and his dynasty reigned for 112 or 120 years in Magadha according to the Purāṇas, Though there was a king called Pālaka in Magadha, he was not a contemporary of Mahāvīra. Pālaka's reign in Magadha was not followed by a new dynasty. The Pradyotas reigned for 138 years and the Śiśunagas for 362 years in Magadha before the Nandas came to power. That happened 477 years after Pālaka in Magadha who belonged to the Pradyota dynasty. So we cannot equate the Pālaka of Magadha with the Pālaka of Avanti, not the Nanda dynasty with the Vijaya dynasty. So the Chandragupta of the Jaina works belongs to Avanti and is different from the Maurya ruler. Names like Pālaka, Chandragupta and Puśyamitra have confused later authors who begin their accounts with Avanti and end there too with Gardabhilla and Vikramāditya but believe some of the ruler belonging to the intervening period reigned in Magadha ! That is hardly sensible.

Then, while one group of the evidence would place Chandragupta 215 years after the death of Mahāvīra, the other after 155 years only. The two dates are 60 years apart—a big difference. Bhadrabāhu became an Āchārya 162 years A.M. according to some, the other assign 209 A.M. for the event. The difference is 47 years between the two dates—again, a big difference. Nobody has so far cared to explain it. In my humble opinion all the four dates are correct but confusion caused by a long lapse of time, has misplaced them. What we need is to evaluate them and place them properly. Dates of the birth of Bhadrabāhu and Chandragupta were deemed memorable by the tradition. Next in importance were the dates of Paṭṭābhiṣeka of Bhadrabāhu and Dīkṣa of Chandragupta. So it seems reasonable to hold that Bhadrabāhu was born 162 years after the death of Mahāvīra and became Āchārya 209 years after the death of Mahāvīra. Similarly, we can hold Chandragupta was born 155 A M. and became a Jaina monk 215 A.M. People who linked the figures 155 and 215 with Chandragupta's coronation were mistaken. Renouncing kingdom to become a Jaina monk at the age of 60 is neither unusual nor impossible. Abilities might have made Bhadrabāhu an Āchārya at 47 and there is nothing incredible in it, Moreover, the disciples are not necessarily younger than a guru and a guru at 47 can have disciples of 60 and above.

Before we conclude, we have to observe the following gāthā in the Cylonese Pali work Mahāvaṁśa :—

जिननिव्वाणतो पच्छा पुरे तस्साभिषेकतो ।
साट्ठास्स वस्स सतद्वयं एव विजानियम् ॥ V/21.

It is intended to show there that the interval between the death of Buddha and the coronation of Aśoka was 218 years only. That is disproved by the evidence of the Purāṇas as we are going to see. The word 'Jina' in the gāthā is remarkable, It indicates there was a tradition in India that claimed there was an interval of 218 years between the death of Mahāvīra and coronation of Chandragupta. It had originated out of confusion as 218 A.M. seems to be the date of the death of Chandragupta. The Ceylonese Buddhists picked up the verse from Indian tradition and used it for the purpose mentioned above. That made the confusion worse confounded. The Paṭṭāvalis of the *Kharataragachchha* and *Tapāgachchha* assign about the same date. namely 219 A.M., for the death of Sthūlabhadra and coronation of Chandragupta. That is significant.

II. VIKRAMA AND *ŚAKARĀJĀ*

The Jaina tradition mentiones Vikrama and *Śakarājā* and the

interval between Mahāvīra and them. That seems to offer us a solution as to the date of Mahāvīra. So it is worth while to examine the data in that respect and where it leads to.

(i) According to Himavanta Theravali, Nabhovāhana died in Ujjayini 364 A.M., Gardabhilla became a King 394 A.M. and Vikramāditya became a king 410 A.M. Though not stated in the work, it appears to suggest that Vikram Era began with the demise of Vikramāditya 470 A.M.—a belief shared by several Jain authors.[2] That means Mahāvīra died 527 B.C.

(ii) The Śakas were defeated, Vikramāditya ascended the throne and Vikram Era began 470 years after the death of Mahāvīra according to the Prabandha-Kosa and Vichāra-Śreṇī. That too leads to the same date.

(iii) Vikrma was coronated at the age of 17 according to the 18th gāthā of the Sarasvatigachchha. If he was born 470 A.M. and coronated 487 A M., Mahāvīra would have passed away 543-544 B.C. That is the view shared by Dr. K. P. Jayaswal and R.K. Mukherjee.[3]

(iv) Vikramāditya appeared 466 years after the death of Mahāvīra according to the Śatruñjaya-Mahātmya of Dhanañjaya Sūri. Śilāditya became a king 477 years after the Vikrama Era, says the same work. Historicity of the work is doubted by scholars.

Thus we find that while the Jaina tradition records the interval, 470 years do not mean the same thing to all the works. To some it is the period upto the birth of Vikrama, to others it is the period up to his coronation and to still others, it is the period up to his death. That raises questions about the source of information and its reliability.

Then, there are doubts about the completeness and authenticity of the account of the kings that ruled during the interval, or reasons best known to themselves, Jacobi and Charapentier have focussed their discussion on Merutuṅga. As earlier sources were not unknown to them, that is difficult to explain. Merutuṅga says Pālaka was coronated in Avanti the very night Mahāvīra died. Jacobi and Charpentier have argued to disconnect Merutuṅga's account from Avanti and to establish that Pālaka mentioned by Merutuṅga was none but Rājā Hastipālaka whose Rajjusabhā Mahāvīra was residing in when he passed away at Pāvā. Their arguments are far from sound and I stick to the view that the Pālaka mentioned was none but the son of Pradyota of Avanti. People in the days of Buddha and Mahāvīra knew him well and the tradition is expected to have a sound knowledge about him. There can be, therefore, no doubt

about his identity and duration of his reign. Given the importance attached to Chandragupta, the old tradition might have cared to know and preserve for posteriority how many years passed between Pālaka and Chandragupta. So the 155 years for the Vijaya dynasty is a figure that cannot be dismissed lightly.

That does not hold good for the latter part of the account. Balamitra, Bhānumitra and Nabhovāhana were hardly the persons the Jaina tradition should have cared to remember. Gardabhilla was villain the tradition could remember. The story of Kalakāchārya links Gardabhilla, Śaka and Vikrama together and makes them worth remembering. But is that a guarantee to the accuracy of the number of the rulers and the figures for their reign too ?

Western scholars seek to lessen the interval between Mahāvīra and Vikrama but it is quite possible that it was longer and the tradition has forgotten it. It is merely a confusion that equates the Vijaya dynasty with the Nandas and calls the following dynasty as Maurya. Reign of the Mauryas and Nandas taken together in the Purāṇa amounts to 273 years whereas the reign of the Vijaya dynasty added to the reign of the Mauryas equals 263 (155+108) years only which is ten years less. We know nothing about other rulers of Avanti. It is useless to comment on the conjectures about Gardabhilla and Saka even when penned by Jarl Charpentier as they contain nothing substantial in them.

That leads to the question when and how the Jaina authors came to know about the political history of Avanti. Jainism, like Buddhism, prevailed mostly in the eastern part of India at first. It spread to the west later. So the Jaina tradition is expected to know little about the western part of India so far as the periods before and after the days of Chandragupta are concerned, though it is expected to know about Pradyota and his son Pālaka who were well known political personalities of the age. We are not sure about the influence Jainism had in Avanti during the centuries that preceded and fallowed Christ immediately. Historicity of Vikramādiiya and his era is also a matter of dispute to date, The view has gained currency that the era was formerly known as Kṛta era, then called Mālava era and finally became associated with Vikramāditya. That demands a lot of explanation and seems to contain simply a half-truth. While the equation of Kṛta era with Mālava is established with the epigraphical evidence it still remains to be demonstrated that Vikram era is identical with the same. As stories about Vikrama had become quite popular by the ninth century, they might have aroused the need to specify the interval between Mahāvīra and Vikramāditya. A structure was somehow

built at that stage. Needless to say, it could not and did not contain much historical data. Most of it was heresay and fiction. Whenever there is a gap, imagination moves forward to fill in the same Mass psychology seems to be unwilling to leave gaps in information. Even in our own times, the gap is often filled in with gossips and rumours. There is nothing to believe that people behaved otherwise formerly in absence of the mass media.

The Jainas of Mysore believe Mahāvīra died 607 years before Vikrama. That is supposed to be a result of confusing Vikrama era with the Śaka era.[4] Then, the *Trilokasāra* says the Śakarājā was born 605 years and 5 months later than the death of Mahāvīra. That is about two years less than 607. The difference is explained somehow as caused by the modes or calculation. That is not material, What matters really is how Śakarājā came to be confused with Vikrama.

We find the answer in the *Tiloyapaṇṇattī* :

वीरजिणे सिद्धिगदे चउसयइगिसट्ठि वासपरिमाणे ।
कालम्मि अदिक्कन्ते उप्पण्णो एत्थ सकराओ ।।
अहवा वीरसिद्धे सहस्स णवकम्मि सगसयब्भहिए ।
पणसीदिम्मि यतीदे पणमासे सकणिओ जादो ।।
चोद्दसहस्स सगसयते णवदीवास कालविच्छेदे ।
वीरेसर सिद्धीदो, उप्पण्णो सकणिओ अहवा ।।
निव्वाणे वीरजिणे, छव्वास सदेसु पंचवरिसेसुं ।
पणमासेसु गदेसुं, संजादो सगणिओ अहवा ।।[5]

(Śakarājā was born 461 year afters the *nirvāṇa* of Mahāvīra, Or Śakarājā was born 9785 years and 5 months after the *nirvāṇa* of Mahāvīra. Or Śakarāja was born 14793 years after the *nirvāṇa* of Mahāvīra. Or Śakarājā was born 605 years and 5 months after the *nirvāṇa* of Mahāvīra).

That is the oldest evidence in this respect. The words *'siddhi'* in the first three verses and 'nirvāṇa' in the last one mean the same thing. Even if they were taken to mean different things, that would warrant a difference of not more than three decades. The words *'VĪRA'* and *'VĪRAJINA'* in the verses undoubtedly stand for the same person Mahāvīra. The word *'ahava'* is remarkable. Either the verses refer to four different Śakarājā was disputed even in the 5th century of Christ. When the *Tiloyapaṇṇattī* was written. Whatever the alternative we choose, later authors like Hemachandra and Merutuṅga lose the importance given to them by Jacobi and Charpentier.

Two of the figures, namely 14793 years and 9785 years and 5 months are simply beyond our comprehension. Perhaps, they are meant to be prophecies despite the use of past tense. The tradition

might intend to carry a prophecy that one 'Śakarājā' would be born 9785 years 5 months after the death of Mahāvīra while the other would be born after 14793 years. The figure 605 years 5 months is supposed to be linked with the Śaka era of 78 A.C. But the birth of a Śakarājā in 78 A.C. is not proved by literature and epigraphy. What really happened in 78 A.C. was that Chandragupta II of the Gupta dynasty killed a Śaka ruler and saved the honour of Dhruvadevi. Soon after the event Ramagupta lost his life as well as the throne and Chandragupta II became king and assumed the title of Vikramāditya. It would be simply absurd to say that he was born in 78 A.C. As for the figure 461 years, there is nothing in the *Tiloyapaṇṇattī* to warrant linking the 'Sakarājā' either with the Vikram era or with the era of 78 A.C. The *Tiloyayaṇṇattī* does not mention Vikramāditya at all.

'Sakarājā' in fact does not mean a king born in the Saka tribe. It means a king who founded his era. The verses, therefore, refer to four king who founded their era or are expected to do that. Well-known works on Sanskrit grammar use the word *'ŚAKAPĀRTHIVA'* in the same sense. There is nothing to question the statement that a king who founded his era was born 461 A.M. and another of the same kind was born 605 years after the death of Mahāvīra. Though we know nothing about the two kings now, we ought to respect the tradition in absence of anything to disprove it. The two 'Sakarājā' mentioned in the gāthās of *Tiloyapaṇṇattī* were identified with the founders of Vikrama era (57 B.C.) and Saka era (78 A.C.) sometime after the ninth century A.C. Such identification could not be done smoothly. The difference between the two figures 461 and 605 in the *Tiloyapaṇṇattī* was 144 years while the difference between the two eras was 135 years only. The difficulty was remoyed by replacing 461 with 470 years in later works without bothering to explain and justify the adjustment. That is highly improper and invalidates the conclusions drawn by Hemachandra Sūri and Merutuṅga etc.

III. KALKĪRĀJĀ

The Jaina literature mentions a ruler called *Kalkī* who was hostile to and persecuted Jaina munis. We can see if the references to *Kalkī* are of any use to us. I have come across the following in this respect.

(i) Nemi Chandra in his *Trilokasāra* says Sakarājā was born 605 years 5 months after the death of Mahāvīra and Kalki followed 394 years 7 months after Sakarājā :—

पणछस्सयवस्सं पणमासजुवं गमिय वीर णिव्वुइदो ।
सगराजा ततो कक्की चहुणव तिय महिय सगमासं ॥[6]

That places *Kalkī* 1000 A.M.

(ii) The *Tiloyapaṇṇattī* says the Gupta dynasty reigned for 231 years. Then it adds :

ततो कच्की जादो इन्दपुरे तस्स चउमुहो णामो ।
सत्तरि वरिसा आऊ विगुणिय-इगिवीसरज्जं च ।।

(Then *Kalkī* was born in Indrapura. His name was Chaturmukha, he lived for 70 years and his reign lasted 42 years). *Kalkī* was coronated on the expiry of 275 pears of the *Āchārāṅgadharas* :—

आयारांगधरादो पणहत्तरि जुत्त दुसय वासेसुं ।
बोलीणेसुं बद्धो पट्टकक्किस्स णदवइणो ।।[7]

(iii) According to the *Titthogalipaṇṇaya* the wicked fellow *Kalkī* was born in the year 1323 of tne Śaka era at Kusumpura :

सगवंसस्स तेरस सयाई तेवीसई होंति तासाइं ।
होही जम्म तस्स उ कुसुमपुरे दुट्ठबुद्धिस्स ।।[8]

(iv) According to the *Dīpālī kalpalatā*, *Kalkī* was born on Chaitra Suklā Aṣṭamī, 1914 years after the death of Mahāvīra :—

यन्निवृत्तेर्गतेष्वब्द शतेष्वेकोनविंशतौ ।
चतुर्दशेषु चाब्देषु चैत्रशुक्लाष्टमीदिने ।।[9]

(v) According to the *Kālasaptaṭīkā*, Kalki who was a enemy of the *Śramaṇas* was born at *Pātālapuri* in a Chaṇḍāla family :

वीरजिणा गुणवीससएहिं पणमास वारवरिसेहिं ।
चण्डालकुले होही पाडलपुरी समण-पटिकूलो ।।[10]

Thus the information about *Kalkī* is far from identical. According to the *Tiloyapaṇṇattī*, he was born in Indrapura, but the place of his birth is called Kusumapura or *Pātālī* in later works. While Kusumpura and *Pātalī* can be equated with *Pāṭaliputra*, that is not true about Indrapura. The place and caste given do not help us in identifying *Kalkī*. The last two verses quoted above have a difference of two years (1914 and 1912) which is nominal. But when the *Triloksāra* says *Ralkī* was born 1000 A.M,, the *Titthogalipaiṇṇaya* places his birth in the 1323 Saka era, and the other two works say more than 1900 years had passed, the difference is immense.

If the figure 1323 is linked to Saka era of 78 A.C., the date of Kalki's birth will be 1401 A.C. and if Mahāvīra died one thousand years before that, we have to accept 401 A.C. as the date of Mahāvīra's death which is absurd. So the Śaka era in this context means something different. The oldest work *Tiloyapaṇṇattī* does not mention the interval of one thousand years. Instead, it says Kalki was coronated

when 275 years of the *Āchārāṅgadharas* had expired. I confess, I am unable to understand what it means as I am not informed enough. But the *Tiloyapaṇṇattī* adds that Kalki came after the expiry of 231 years of the Gupta rule. That indicates Kalki was born around 200 A.C. as I believe the reign of the Gupta's began a little before Christ. If one thousand years had passed since the death of Mahāvīra at that time, Mahāvīra would have passed away 800 B.C.

It is not difficult to reconcile the last two references. Both 1912 and 1914 are figures about 605 years more than 1323. It is quite possible that the figure 1323 belongs to the *Śaka* era whose founder was born 605 years after the death of Mahāvīra. Now, however great a king might be, his era can not begin with his birth. Mostly the eras begin with the coronation of a king. So the era of the king who was born 605 years after the death of Mahāvīra is not expected to begin earlier than 18 years later. When 1323 years of that era passed not less than 1323+623=1946 years after the death of Mahāvīra are expected to have expired. Now if the Gupta dynasty had ended by the time and the second century after Christ was passing, the death of Mahāvīra must be dated about 1800 B.C. That is vague and compels us to look elsewhere for a solution.

IV. MAHĀVĪRA : A CONTEMPORARY OF BUDDHA

The clearest and decisive point about the date of Mahāvīra is the fact that the two great men, Mahāvīra and Buddha were contemporaries. To the best of my knowledge and belief Buddha is nowhere mentioned in the Jaina literature but the Pālī canons do mention Mahāvīra as *Niganṭha Nātaputta*. Jacobi, Charpentier and other scholars are at one in holding the view that they were contemporaries, that both the great men propagated their doctrines moving in the same regions, that both had ample opportunity to become acquainted with the views and followers of each other. As nobody disputes these things, we need not discuss and prove these things anew.

Scholars like Jacobi and Charpentier assign 467 .BC. to the death of Mahāvīra and 477 B.C. to the death of Buddha. Mahāvīra was a junior contemporary of Buddha according to them. They have, however, failed to cite even a single evidence from the Buddhist or Jaina literature to substantiate their contention that Mahāvīra survived Buddha by ten years. The Pālī text *Mahāparinirvāṇa Sutta* says Buddha was living at Samāgama in the country of the Sākyas when he learned that *Niganṭha Nātaputta* had passed away at Pāvā. As the information is brief and non-specific, Mahāvīra might have died months or years before the death of Buddha. But the Pālī text leaves no doubt about it that the death of Mahāvīra must be placed

before the death of Buddha. Jacobi and Charpentier have decreed the evidence of the Pālī texts as worthless and drawn their conclusions arbitrarily.

To dismiss the evidence of the Pālī text these scholars have found several faults with it. First, they say, the Pālī text mentions Pāvāpurī in the country of the Śākyas as the place where Mahāvīra breathed his last. While as a matter of fact it was a village Pāvā in Magadha. Second, it mentions that "the *nirgranthas* were divided by serious schisms and almost on the point of breaking up the whole community" which is not supported by the Jaina texts. Then they proceed to mention other things which seem to place Mahāvīra's death after that of Buddha. First of these is that the Buddhist texts call the teachings of *Niganṭhanātaputta* as Chāturyāma which is supposed to prove that Buddha was not acquainted with the fifth vow which was added by Mahāvīra later. Secondly, the Buddhist texts mention Bimbisāra and his capital Rājagriha while the Jaina texts mention Ajātaśatru and his capital Champā frequently. Such references undoubtedly are related to the later part of the reign of Ajātaśatru.[11]

None of the arguments leads to the conclusions desired. What someone intends to express is often distorted in transmission. Even nowadays, there are commissions and omissions in the press. Editors and publishers betray the author sometimes. There was some sort of editing and there were commissions and omissions in copying too in earlier times. So the distortions and corruptions in a text do not make it entirely unreliable and such excuse should not be accepted promptly if we really want to arrive at truth. The author of the original Pālī text was undoubtedly aware of the place where Mahāvīra died and in all probability he mentioned it simply as Pāvā. The sutta was preserved orally for centuries and finally when it was committed to writing, someone wanted to add the location and as the man who added it was not well-informed a confusion crept in. That does not invalidate the entire sutta.

I do not remember having come across anywhere in the *Mahāparinirvāṇa Sutta* that there was a split in the Jaina Saṁgha after the death of Mahāvīra. If, I am not mistaken, the sutta simply says the disciples of Mahāvīra were very unhappy and felt helpless after the death of the great teacher. Even if there were anything of the type alleged by Charpentier, we could explain it satisfactorily. What happened in other communities of monks after the death of their teachers might have been added there too by mistake. That was not impossible as the Buddhist texts were preserved orally for a long

time and used identical words, phrases and sentences to describe similar incidents for convenience of memorising. When repetition of the kind are frequent, some commissions are not unlikely. But how can such commissions invalidate the statement that Mahāvīra died before Buddha ? Location of Pāvā is a matter of detail while the statement about the priority of Mahāvīra's death is a general fact. The witness who errs about the detail is not necessarily mistaken when he states a general truth. For example, if a person fails to tell us where Porabandara is or gives incorrect information about its locotion, we cannot reject on that ground his statement that M.K. Gandhi was born at Porabandara.

Dharmānanda Kosāmbī in his Marāthi work 'Pārśvanātha Chāturyāma Dharma' has shown well that teachings of Mahāvīra do not differ basically from those of Pārśvanātha. The fifth vow of Mahāvīra was implied in the Chāturyāma and Mahāvīra added it simply to remove certain ambiguities and confussions. As Buddha did not find any basic difference in the teachings of the two, he used the popular word 'Chāturyāma' for the teachings of Mahāvīra too. Even if we take for granted that Buddha died a decade earlier, his teachings were not collected and committed to writing immediately. Both the Jainas and the Buddhists propagated their doctrines in the same region side by side for a long time. It is hardly conceivable then that the Buddhists did not learn about the innovation introduced by Mahāvīra. So ignorance on the part of the Buddhists cannot explain the use of the word 'Chāturyāma'.

That the Buddhist texts mention Bimbisāra and Rājagriha while the Jaina texts mention Ajātaśatru and Champā is like wise of no significance in this respect. Such matters depend upon taste and relevance. The Buddhists had better relations with Bimbisāra and it was but natural for them to refer to him and his capital frequently. Ajātaśatru and his capital are mentioned frequently in the Jaina texts for a similar reason. The death of the either of the two great teachers cannot be placed earlier or later on such grounds. An example from our own times will suffice to show how mistaken Jacobi and Charpentier are. Syāmnārāyana Pādeya wrote his *"Haldī Ghātī"* about Rānā Pratāpa while Jadunāth Sarkār wrote about Aurangazeb and his successors. Is that enough to prove that the former died earlier than the latter ?

Then, the date of Buddha's death is not a matter beyond dispute either. A list of 48 dates suggested by different scholars is available and the dates range from 369 B.C. to 2422 B.C.[12] The list evidently omits some of the dates known to us. For example, 477 B.C., the

date accepted by Cunningham, Max Muller and Charpentier is missing in the list. So a complete list would consist of 50 to 60 dates. It does not mean that we cannot ascertain the dates of the two great men. The situation is not as hopeless as the prejudices and obsessions of the western scholars have made it. Their basic error is to ignore the evidence that is nearest in point of time and place and to attach utmost importance to what is farthest. Secondly, some equation based on insufficient gounds are accepted as axioms. Thirdly, different Buddhist countries linked different dates with the death of Buddha which complicates the matter even more.

Was the Buddhist order really aware of the date of Buddha's death in its early days ? The answer should be in the affirmative as Buddha died before the eyes of the order. But was the knowledge handed over to the tradition carefully ? The answer must be negative. Were the tradition sure about it, there would not have been different dates in different countries nor several dates in the same country. So we have to conclude that the date of Buddha's death was calculated separately at a much later stage. What the calculations were based on is a matter that demands further investigation. Few scholars have cared to explain the difference. Dr. D. S. Triveda thinks the date when Buddhism was introduced in a country for the first time came to be regarded as the date of Buddha's death in that country erroneously. The historians of the future can use that as a good starting point for their research. The other possibility is that the very date when a Buddhist sect came into being was accepted by it as the date of Buddha's death in course of time due to confusion.

When the Buddhists all over the world celebrated 2500 years of Buddha's *nirvāṇa*, the Cylonese Tradition was granted the place of honour. Buddha died 543-544 B.C. according to that tradition. That is a later fabrication adopted by the Ceylonese chroniclers, claim the western scholars and their disciples. But there is epigraphic evidence to show that the date was accepted as such as early as 396 B.C.[13] Under the circumstances, we should have accepted it but for two reasons. First, the date does not tally with the evidence of the Purāṇas. Secondly, an era starting with the same date is called "*Puttasakarāta Saṁvatsara*" and "*Devaputra Śaka Samvatsara*" in Siam (Thailand) and linked with some king.[14] There were several eras founded by different kings in ancient times and they were all known as "śaka" or śāka". As the words Śaka, Śāka, Śākya and Śākyamuni are so close it seems quite possible that the era of 543-544 B.C. and several other "śakas" came to be linked erroneously with the *nirvāṇa* of Buddha.

According to the fashion of last two centuries, the entire chronology of Indian history is based on the assumed date of Chandragupta Maurya and the dates of Buddha and Mahāvīra are no exceptions to it. Jarl Charpentier declares bluntly : "The real chronology of India begins with Chandragupta after the invasion of Alexander."[15] But "the date of Chandragupta's accession or *abhiṣeka* is by no means fixed, varying between 325 and 312 B.C. according to different authorities." So utmost emphasis is laid on the 13th Rock Edict of Aśoka which is supposed to mention certain foreign rulers, namely, Amtiyoka, Turamaya, Amtikina, Maka and Alikasundara. Lassen identifies them with Antichoes II Theos king of Syria (261-246 B.C.) Ptolemaios II of Egypt (d. 247 B.C), Antigonos Gonatas of Macedonia (d. 239 B.C.), Magas of Cyrena (d. 258 B.C.), and Alexander of Epirus (d. probably 258 B.C). As the Rock Edict was published in the thirteenth year of his coronation, that year cannot fall earlier than the accession of Antiochos Theos 261 B.C. and later than the death of Magas 258 B.C. So the year of coronation must have been 272-270 B.C. If Buddha died 218 years earlier as the Ceylonese sources contend, the date must have been 480-488 B.C. But Charpentier believes 218 years refer to Aśoka's conversion to Buddhism and only 209 years had passed since the death of Aśoka's coronation. Thus he arrives at the date of 477 B.C. for the death of Buddha. While differing a little in details and conclusions, most of the hisiorians follow the same methodology.

The grand structure of Indian coronology created thus though generally accepted is based on quick sand. Charpentier was conscious of the fact that Xandrames or Agrammes mentioned by odorus and Curtius was the king who preceded Sandracottus and the name Xandrames seemed to contain a Chandra in it and there was "no such name amongst the Nandas".[16] But he did not care to pursue the matter further. He ended by following the beated track and identifying Xandrames with the last ruler of the Nanda dynasty and Sandracottus with Chandragupta Maurya. But we know now that Xandrames did not belong to the Nanda dynasty and Sandracottus was not identical with Chandragupta Maurya. Not only that, they were not the rulers of Magadh at all.[17] So we cannot place Chandragupta Maurya in the fourth century B C. Nor does it seem credible that Aśoka named five foreign rulers in his inscription. Phonetically 'Aṃtikini' cannot be identified with Antigonus at least. It is inexplicable why Aśoka used the names of five foreign rulers in his thirteenth Rock Edict while using the names of kingdoms only in

other cases. Dr. D.S. Triveda has a strong case when he argues that Aśoka's inscriptions name territories only and do not contain names of any kings [18] It is remarkable here that the western sources have cared to mention the missions sent by even the most petty rulers of India. Sometimes dubious persons are represented as the embassy of some Indian ruler to glorify western rulers. The mission to Augustus, for example, belongs to that dubious category.[19] So had Aśoka sent his messengers to those foreign rulers in fact, they must have felt honoured and their chroniclers could not fail to narrate with relish. As for the figure 218 years, it is misplaced from Jaina tradition and even Charpenlier does not believe that it represents the interval between the death of Buddha and coronation of Aśoka.

So the Purāṇas offer us the safest and surest ground for the Chronology of ancient India. We find the following clues for the Chronology in the Purāṇas :

(i) One cycle of the *Saptarṣis* ended since the reign of *Pratīpa* of the Kuru dynasty to the end of the Āndhra dynasty. That means 2707 years 6 months passed during the period.

(ii) 1500 years passed since the birth of *Parīkṣita* to the coronation of *Mahāpadma.*

(iii) 836 years passed from the coronation of *Mahāpadma* Nanda to the end of the Āndhra dynasty.

(iv) Parikṣita was born a few months after the Mahābhārata war and coronated at the age of 36 years. His accession marked the beginning of the Kali-age.

(v) The Saptarṣis were staying in the *Maghā* during the reign of *Parīkṣita.* The Kali-age was extended after the reign of the Nanda dynasty and the Saptarṣis moved to *Pūrvāṣāḍha.* The Saptarṣis were staying in the 24th nakṣatra (i.e. from Maghā) at the end of the Āndhra dynasry.

Then the Purāṇas mention the duration of the reign of various dynasties, The unanimous and therefore reliable testimony of the Buddhist texts is that Buddha died during the eighth year of Ajātaśatru's reign. The Tibetan sources add that 500 years of the rise of Buddhism had expired during the reign of Puśyamitra and 500 years of the decline of Buddhism began with the atrocities of of Puśyamitra. As Puśyamitra died five years after the atrocities, 505 years since the death of Buddha must have passed by the time.[20] We can find out the dates of Buddha and Mahāvīra with the help of these pieces of information.

Parikṣita was born 36 years before the Kali-age, i.e., 3137 B.C.

Mahāpadma Nanda was coronated 1500 years later, 1637 B.C. The Nandas ruled not less than 136 years.[21] So Chandragupta Maurya became a king 1501 B.C. Puśyamitra, who became a king 137 later, was therefore coronated 1364 B.C. As he reigned for 60 years, he died 1304 B.C. As Buddha died 505 years earlier, he must have died 1304+505=1809 B.C.

The contention that Aśoka was coronated 218 years after the death of Buddha or even less than that is based on prejudices and obsessions. For example, Charpentier argues "that names like Mahānandin and Nandīvardhan have nothing in common with the Śaiśunāgas but look suspiciously like Nanda" and deems that enough "to draw the conclusion that Mahānandin and Nandīvardhana originally represented the two generations of the Nandas, reigning 85 years" and "that the 100 years attributed to the Nandas is an interpolation based on oblivion and misunderstanding of the real facts."[22] I am afraid such a logic can make Nanda and Yaśodā in separable from the Nanda dynasty and turn Kṛsṇa into a contemporary of the Nandas ! I wonder what is specific or exclusive about the names belonging to different dynasties and why certain names must be struck off as uncommon despite the testimony of the Purāṇas to the contrary. Charpentier and his followers do not care to explain it.

The Purāṇas assign 137 years to the Mauryas and 136 years to the Nandas before them. According to the texts edited by Pargiter, the Śiśunāga dynasty ruled for 362 years. However, the figures given for individual reign total 346 years only as evident from the following :—

1.	ŚIŚUNĀGA	40 years
2.	KĀKAVARṆA	36 "
3.	KṢEMADHARMĀ	36 "
4.	KṢATRAUJĀ	40 "
5.	BIMBISĀRA	28 "
6.	AJĀTAŚATRU	25 "
7.	DARŚAKA	25 "
8.	UDAYĪ	33 "
9.	NANDĪVARDHANA	40 "
10.	MĀHĀNANDI	43 "
		346 years

The kings belonging to the dynasty ruled as following to the death of Buddha :—

1.	ŚIṢUNĀGA	40 years
2.	KĀKAVARṆA	36 ,,
3.	KṢEMADHARMĀ	36 ,,
4.	KṢATRAUJĀ	40 ,,
5.	BIMBISĀRĀ	28 ,,
6.	AJĀTASATRU	08 "
		188 years

In the present state of our knowledge, we can not explain the discrepancy of 16 years but when the Purāṇas are unanimous in assigning 362 years to the dynasty, we have to believe them. Subtracting 188 from 362, we get 174 years. That is how long the *Śiśunāgas* rules after the death of Buddha. Then came 136 year long reign of the Nandas. So Chandragupta Maurya was coronated 174+136=310 years after the death of Buddha. Aśoka was coronated 53 years later. Therefore Aśoka was coronated 310+53=363 years after the death of Buddha.

The Pālī texts are not equivocal about it that Mahāvīra passed away before Buddha. The Jain sources do not mention Buddha and yet their testimony confirms it. According to the research of Āchārya Vijayendra Sūri, Mahāvīra passed 30 Rainy-seasons at different places after his attainment of omniscience.

The last two of them were passed at Rājagṛha and Pāvā, Buddha, according to the *Aṅguttaranikāya—Aṭṭhakathā* passed 46 Rainy-seasons at different places after enlightenment. We are also informed by the *Sāmmaṇṇyaphala Sutta* of *Dīghanikāya* that Ajātaśatru called upon Buddha and there after Mahāvīra. So the 29th and 30th Rainy-seasons of Mahāvīra synchronise with the 20th and 21st rainy-seasons of Buddha. Buddha, therefore, survived Mahāvīra by 46—21=25 years.[28] The date of Mahāvīra's death is, therefore, 1809+25=1834 B.C. He had a life-span of 72 years. So he was born 1834+72=1906 B.C. Buddha, who had a life-span of 80 years, was born 1809+80=1889 B.C. That is, Buddha was junior to Mahāvīra by 17 years in point of age. ●

REFERENCES

1. Xandrames & Sandracottus, Tulsi Prajña, Vol. XVIII, No. 1 & 3.
2. Wilford, Asiatic Researches, Vol. IX, 1809, P. 157; Hiralal, *Date of Mahāvīra-Nirvāṇa*, 304 Jnal. of university of Nāgpur, December 1970, pp. 52-53.

3. Jayaswal, The Saisunaka and Maurya Chronology, *JBORS*, Vol. I. 1915, pp. 69-116.
4. K.B. Pathak, *The Date of Mahāvīra*, Indian Antiquary. 1883 A.C., P. 21.
5. *Tiloyapaṇṇattī*. New Edition, Verses 1508-1511.
6. Dr. Paramesvar Solanki identifies Kalki with Sandracottus. Vide, Tulsī Prajñā, September 1990 (Hindi Section).
7. *Tiloyapaṇṇattī*, New Edition, Verses 1520, 1521, 1522.
8. Pandit Chandra Kanta Bali, *Pariṣad-Patrikā*, April 1986, p. 29.
9. Do, p. 30
10. Do, p. 30
11. Jarl Charpentier, *The Date of Mahāvīra*, I.A., June 1914, pp. 118-123, 125-133, 167-178.
12. Dr. D. S. Triveda, *Indian Chronology*, Bombay, 1963, p. 14.
13. Dr. S. Parana Vitana, *New Light on the Buddhist Era in Ceylon and Early Simhalese Chronology*, University of Ceylon 'Keview', Vol. XVIII, 1960, pp. 129-155.
14. Dr. P. Solanki, Tulsī Prajñā (Hindi Section), June 1990, pp. 36-37.
15. Jarl Charpentier, *The Date of Mahāvīra*, I.A., June 1914, p. 132.
16. Do, footnote 65 at page 167.
17. Upendranath Roy, *Xandrames and Sandracottus*, Tulsī Prajñā, Vol. XVIII, No. 1 & 3.
18. Dr. D. S. Triveda, *Indian Chronology*, Bombay, 1963, p. 19.
19. Dr. R. C. Majumdar (ed.), *Classical Accounts of India*, Calcutta, 1981, pp. 474-483.
20. Lama Tarānāth : *Baudha Dharma ka itihāsa*, Patna, 1971, p. 47.
21. Upendranath Roy, *Parīkṣita—Nandantaranirṇaya* in Ācharya Udayavīra Shastri Felicitation, Volume Ghaziabad, 1986.
22. Jarl Charpentier, *The Date of Mahāvīra*, I.A. June 1914, p. 167.
23. Dr. P. Solanki, *The Chronological list of Rainy seasons passed by Mahāvīra and Buddha*, Tulsī Prajñā (English Section) July-September 1991, p. 32.

DATE OF LORD MAHĀVIRA RECONSIDERED

● *Dr.G. V. TAGARE*

When we were school-boys in early 1920s, we were taught the fiction of the Āryan invasion of India as "History". To impress the comparative modernity of Indian culture, we were told that the Bactrian ambassador Magathenes (M) was at the court of Candragupta Maurya (CM). It did serve the imperial objective of a foreign ruler to instil in us a sense of inferiority viz. We are by nature a submissive race conquerred by every foreign aggressor since times immemorial and that our civilization is not very old as claimed by our records. Thus we were told that Lord Mahāvīra and the Buddha belonged to the 6th Cent. B. C.

It is, however, our misfortune that even 40 years after political independence, the same myths are taught as "History" to our grand-children and text books still repeat the imperialistic rot.

The fact of the matter is that if M. is to be believed as per his records, he was not the contemporary of CM. *Indikā* the original work of M. is not now extant. But Long extracts quoted by pliny, Solinus (52 5), Arrian (*Indikā* I. IX) unanimously state that there were 153 kings between Dionysus, the first invader of India and Alexader the Great, and that the period between the two kings was 6451 years and 5 months. As is welknown M. was accredited to the court of pāṭliputra (Mod. Patnā). His informants were naturally the Brāhmins who relied on their own records about the number of ruling dynasties at Pāṭaliputra and the total number of yeares of their dynastic rules.

Now in the *Vāyu Purāṇa* (Va. P.) II. 1, 135 ff, it is stated that Pṛthu, the son of Vena, was annointed by gods (Devas) as the FIRST KING (*Ādirājā*). He levelled the earth, encouraged agriculture, cattle-breeding, Commerce and building cities and villages. A reference to the dynasties of kings (*Vaṁśānucarita*) as recorded in the *Vā. P.* and other Purāṇas shows that the number of kings between Pṛthu and Candragupta I of the Gupta dynasty (and not Cm.) is 153. (The number 154 in some Purāṇas can be explained as Bhāradvāja whom Bharata adopted, was never crowned but it was his son Vitatha who was crowned and the discrepancy between 153 and 154 as given in some Purāṇas is explained.) The number of years between Pṛthu

and Candragupta I of the Gupta dynasty is 6451 years—the same as recorded by M. in *Indikā*. The *Vā. P.* is one of the most authoritative oldest Purāṇas. This information in the *Vā. P.* is supported by the *Brahamāṇaḍa* and other Purāṇas.

Thus the exact correspondence between the number of kings and the period between the 1st king and Alexander the Great as given by M. in *Indikā* and *Vā. P.* shows the need to reconsider the time-frame on which our history books are written.

From our above evidence, we shall have to locate Lord Mahāvīra in the 1200 B.C. at least.

Two Letters

(1)

Dear Dr. Solanki,

I thank you sincerely for your kind letter No. 2104/92-93 dated 26-9-92 regarding an article on the Last days of Lord Mahāvīra for the ensuing issue of TULSĪ PRAJÑĀ. Although I have not received the No. of TULSĪ PRAJÑĀ in which my review article is published I thank you for the same.

The determination of the time and place of the *Nirvāṇa* of Lord Mahāvīra is very important as two distant places claim the honour for it. I am not well for some days but when I feel better shall include whatever material is available in the *Vāyupurāṇa* about Him. As you might be knowing it, Brāhmaṇical Purāṇas contain some secondhand or thirdhand oral information about Buddhism and Jainism and in my notes on the translation of Purāṇas, I have to record the correct information from Pālī and Amg. works.

I am glad to find that you contribute a thoroughly research chapter in every issue of the TULSĪ PRAJÑĀ. I hope you will publish them in a book form for the use of future researchers.

(2)

Dear Dr. Solanki,

Kindly refer to your letter No. 2104/92-93 dated 26-9-92 in which you requested me to write on Lord Mahāvīra's Nirvāṇa on the basis of the Purāṇa.

As you might be knowing, I am the (English) translator of Vāyu Purāṇa. My translation is published in two volumes by Motilal Banarsi Dass of Delhi. After getting your letter, I again peeped through the Sk. Text of the Purāṇa.

There is no mention of Mahāvīra. Two persons from Jain Mythology are named : *King Nābhi* and *Ṛṣabha*. No sermon on any Jain

doctrine is there except a few strong remarks. I have published them in the Introduction to my translation of the Vāyu Purāṇa.

As there is no material on Lord Mahāvīra I am sorry, I cannot contribute on the topic of Mahāvīra's Nirvāṇa.

Kindly send me the issue when published as I am keenly interested in the topic.

With kind regards,

Yours sincerely,

Bhagwan Usabha

"*Usabha* reigned for countless number of years, and then retired in favour of *Bharata*, who was declared as the first universal monach of *Vinītā*. After taking to the ascetic life, for a little over than a year, he went about with clothes and then discarded them altogether. *Usabha* is said to have travelled through a number of places such as the countries of *Bahali*, *Aḍamba* and *Iliā* and reached the city of *Hatthināpura*. Here he was offered sugarcane by *Sejjaṁsa*, the grandson of *Bāhubali*.

Usabha attained omniscience in *Purimatālā* in the garden called *Sagaḍamuha*. He attained salvation at the mountain *Aṭṭāvaya* where shrines were built in his honour."

—Kalpa, 7.205-28; Jambu, 2.30-33; Āva. Nir., 150 ff. VH, PP. 157-65 & Āva. Cū. PP. 135-83.

SUMMARY OF THE TWO PAPERS

(1) On the basic blunder in the reconstrution of Indian Chronology by orientalists or the Greek Synchronisms Reviewed.

Introductory—The great and good work done by western orientalists and their Indian followers since the time of Sir William Jones. The difficulties of earlier orientalists. Europeans public opinion against assigning any great antiquity to India beyond that of Greece. Hopeless exaggeration, to the European mind, of Indian traditions. The *Purāṇa*s thus totally ignored by earlier orientalists. Lack of indigenous historical materials assumed by them and explained away by reference to the supposed philosophic indifference of the Hindus to mundane affairs. The attempts made "to reduce to proper limits" the *Purāṇ*ic accounts. The work, however, marred by serious limitations of the investigators, by complexity of subject-matter, and by defective methods of investigation arising from racial prejudices and prepossessions, superficial knowledge, undue-disregard of tradition recorded in native literature, reckless distortion of original texts, and over-whelming self-confidence. The most typical instance furnished by the false synchronism of Alexander the Great and Chandragupta Maurya which has been called and made the Sheet-Anchor of Indian Coronology.

Origin and application of the hypothesis—Sir William Jones vaguely started the theory in 1793. Colone Witford and prof. Lassen put it on firmer basis. Prof. Max Muller's staunch support—plausibility of the theory. The familiarity of the Europeans with Greek and Roman accounts of India. Sandracottos of the Greeks undeniably contemporaneous with Alexander the Great and Seluecus Nikator. identifieation of Sandracottos with chandragupta. Chandragupta assumed to be the Maurya, who was the only Chandragupta known to the earlier orientalists. The theory welcomed as furnishing one certain starting-point in investigating a huge field of uncertainties. The bypothesis by sheer repetition now passed off as a proved fact "no longer open to doubt". Reconstrution of Indian Chronology by counting backward and forwards and applying averages and approximations, all starting from the "fixed point" of 322 B.C., to eg, the Śaiśunāga and Nanda pre—Maurya dynasties, and the Śuṅga, Kaṇva, Āndhra and Gupta post-Maurya dynasties.

Point in favour of the hypothesis--Sandracottos undeniably contemporaneous with Alexander and Seleucus Nikator as Magasthenes was the latter's Ambassador at the Court of Sandracottos described as ruler of the Praisii or Kingdom east of the Indus, with capital at Palibothra edentical with Pāṭalīputra. His predecessor he overthrew was Xandramus or Andramus or Aggraman, reported to be of low origin and un-popular with his people. These details would apply to Chandragupta Maurya who overthrew the Nandas, the first of whom Mahāpadma Nanda was of low origin being the son of a Śūdra woman. This first or major Greek synchronism supported by the second or minor Greek synchronism, afterwards discovered, of Aśoka, grandson of Chandragupta Maurya and Antiochus Teos, grandson of Seleucus Nikator as recorded in the edicts of King Priyadarśin who in Buddhist record is identical with Aśoka Maurya. The theory as assumed by Vincent smith gives the most satisfactory basis for fixing the date of Buddha also (as lying between 570 and 480 B. C.)

Arguments against the hypothesis—Re-examination of the details supplied by the Greeks. Xandramus or Andramus cannot be identical with Nanda, if Nanda were the reigning King of the Praisii at the time of Alexander's invasion. Xandramus only a Greek corruption of Candramus or King Chandra. Sandracottos or Sandrocyptos who visited Alexander during the raign of Xandramus and who later overthrew Xandramus must be some other than chandra or Chandragupta. The impossibility of making all the details given of Xandramus and Sandracottos refer to one and the same person. The Greek Sandracottos a great emperor who owed his elevation entirely to his own prodigious powers. The Chandragupta Maurya both of the Hindus and the Buddhists a mere puppet in the hands of the wily Cāṇakya who elevated Chandragupta to the throne solely to revenge himself on the Nandas. The consensus of authority of the Purāṇas, of *Kathāsaritasāgara* and *Mudrārakshasa* and of the *Dīpavaṁśa* and *Mahāvaṃśa* on the point. The dates assigned to Buddha by orientalists quite conventional. The comparatively meagre value of the second Greek synchronism, as grandsons of two contemporaries must necessarily be contemporaries also. The assumption involved that priyadarśin of the Edicts is identical with Aśokavardhana. This identification entirely based on Buddhist records which, however, are rejected by all later orientalists as being historically untrustworthy.

The new or suggested hypothesis—The contemporary references of the Greeks would fit in more aptly if applied to Chandragupta and Samudragupta of the early Gupta dynasty. Chandragupta and his father Ghaṭotkacha both Āndhra bhṛtyas being only officers in the army of the Āndhra Kings—Unpopularity of Chandragupta who overthrew the Āndhras—His prodigious powers. The dates of the reigns of Chandragupta and Samudragupta according to the purāṇas, are B. C. 328 to 321 to 270—Alexander's invasion 324—Megasthenes ambassador 302—Samudragupta a great conqueror called by Vincent Smith "The Indian Napoleon" bore also the title of Aśokāditya or Mohāśoka. His conquests recorded by Hariseṇa and inscribed on Priyadaraśin's pillar at Allahabad, who was Priyadarśin, the Great Buddhist Emperor ? Three Kings called Aśoka-Dharmāśoka of Kasmir, Aśokavardhana Maurya and Aśokāditya Gupta—all three in all probability Buddhists. Samudragupta Aśokāditya's relations with the kings of Ceylon and Assyria. Vasubandhu, the Great Buddhist teacher and writer, patronised by Chandragupta and Samudragupta. Internal evidence from the Purāṇas most of which make the scantiest reference to the Gupta Emperors but put the Āndhrabhṛtyas, Ābhīras, and Hūṇas all together. The absence of any reference to the edicts of Aśoka Maurya by Chinese pilgrims esp. Hiuen Thsang. The confusion in the Ceylonese Buddhist records between the three Aśokas and the transference of the deeds of all three to one, Aśoka Maurya—Chandragupta and Samudragupta, however, not khown to earlier orientalists.

Comparative merits of the two hypotheses—The earlier theory placing Chandragupta Maurya in 320 B. C. originated by orientalists whose knowledge was very imperfect and superficial, and maintained by later orientalists only by pulling down and upsetting all Hindu and Buddhist records and traditions. The earlier orientalists lived in times when European conception of the ancient history of no nation other than the Jews extended beyond B. C. 500 or 600. Since then the discovery of the ancient histories of Egypt, Babylon, Persia and China have carried the world's ascertainable history far back of B. C. 2000 to 3000. The overwhelming evidence in favour of holding India to be no less older than Egypt and China. Indian Chronology as reconstructed by western orientalists on the basis of the synchronism of Alaxander the Great and Chandragupta Maurya entirely conventional and opposed to all Hindu and Buddhist records. The interpretation of archaeological remains adduced in support, is no

less conventional and is vitiated by a very imperfect understanding of Indian eras used in inscription whether monumental or numismatic. The subject dealt with in great detail by the late F.B. Nārāyana Shastri, B. A. L. L. B., of Madras in his "Mistaken Greek synchronism" originally issued as an appendix to his "Age of Śaṅkara." The suggested hypothesis of synchronising Alexander with Chandragupta would furnish a far more satisfactory basis for calculation. The dates of Buddha, of Mahāvīra, of the Mahābhārata War etc. on the new hypothesis will be in consonance both with old Hindu and Buddhist records and with later researches correctly interpreted.

Conclusion—Reconstruction of our past history on the new hypothesis will of course create big gaps especially after the Gupta period which cannot be filled up without colossal labour. Our archaeological records will have to be revised and interpreted. The difficulties of the task before the Indian Orientalists. The opposition likely to come from the "prestige" of western Orientalists. The need to overcome these difficulties in the interests of truth. Correct principles of investigation and criticism. The office of the Historian.

(2)

ON THE DATE OF CORONATION OF MAHĀPADMA

The Matsya, Vāyu and Brahmāṇḍa Purāṇas towards the close of their dynastic account of the Kali-age, assert that the account has been carried down to the 836th year, after Mahāpadma. As the preceding verse counts back from the coronation of Mahāpadma, the expression 'after Mahāpadma' should be understood to mean 'after Mahāpadma's Coronation' which is obviously takes here as the pivot of reckoning.

To determine a precise date for this event is the object of this paper. The approximate date has long been known. It must fall about the 4th or 5th century B. C. since the Greek notices conclusively prove that the Maurya dynasty which supplanted Mahāpadma's dynasty after the latter had ruled for 40 or 100 years, had already been established before 300 B. C. and Aśoka Maurya speaks, in an inscription, of *Magas* who ruled in Cyrene c, 300 B. C.—C. 250 B. C. The 836th year after Mahāpadma, the last definite date given in the Purāṇas, thus falls about the 5th century A. D.

It is not likely that Indian historians of such a late period failed to recognise the necessity for the use of an era in order to make their dynastic account chronologically intelligible. Several eras were in

existence at the period· But most of them were regnal reckoning of particular monarchs and the adoption of any one of these reckonings may have been thought to betray a political bias not worthy of an impartial historian But there was one era not open to objection, namely the *Laukika* or *Saptarśi* era. This era has been used by Kalhaṇa in his *Rājataraṅgiṇi* in preference to the Śake era in recording the dates of Kashmir kings. It would appear that this custom was already quite archic in Kalhaṇa's time, and may well have existed at the time the earliest Purāṇas received their present form. The *Laukika* era was eminently suitable for employmet in *Paurāṇic* Chronology; for it is *Laukika* i. e. 'popular' and the Purāṇas are popular histories. Another name for this era is *Śāstra Samvat*, and what Śāstras, if not the Purāṇas, could imperatively require the use of an era ? The Paurāṇic account actually gives an exposition of the *Saptarśi* reckoning just after mentioning the period between Mahāpadma's coronation and the last difinite date to which the dynastic account has been brought down. It is difficult to avoid concluding that the *Saptarśi* or *Laukika* reckoning has been availed of here; in other words, the 836th year after Mahāpadma's coronation is nothing but the last year of a *Saptarśi* century.

This century must correspond to the year 324-424 A. D. for no other century preserves the *Graeco*-Indian synceronisms alluded to above. Mahāpadma's coronation thus falls about the year 413 B. C. (413 B. C.-424 A. D.=836 years.).

The same conclusion follows from other and independent considerations. The dynastic account is claimed to have confined itself to the enumeration of the kings of the Kali-Age. The 836th year after Mahāpadma must therefore have been considered to mark the end of Kali-Age.

Now, the Purāṇas also assert that the beginning of the *Tretā* Age is to be identified with the starting-point of history. True, they assume several *manvaṅtāras*, each *manvaṅtara* consisting of several *caturyugas*, and each *caturyuga*, consisting of four *yugas* calculated according to the *divya* reckoning which concieves of a single year as containing 360 human or ordinary years. But the *Manvaṅtaras* before the *Vaivasvata* period have no relation to history proper as proved by the occurence, in Matsya, of the word *bhuvi* in connexion only with the sons of *Vaivasvata Manu*, as also by the explicit statement in Vāyu that corn cultivation, preservation of cattle, etc., first became possible in the *Vaivasvata* period. Further, the *divya* mode of reckoning is conventional as attested by the use of such expressions as

Sañjnita, āhurmanīṣīṇaḥ and by the existence of an account of Yuga periods without reference to the *divya* reckoning in ch. 32 of Vāyu. The first 27 *caturyugas* of the *Vaivasvata* period are likewise conventional since the *Purāṇas* ascribe a cyclic character to the historical events they enumerate. The *Tretāyuga,* therefore, which is taken in the *Purāṇas* to mark the beginning of orthodox *caturyuga* of the *Vaivasvata manvantara,* and the *divya* calculation need not be considered in judging the historical period. The period between the starting-point and the end of the Kali-Age is thus one of (3600+2400+1200 or) 7200 years.

In the days of Magasthenes, the Hindus reckoned the starting-point of their history to have been 6451 years and three months before Alexander, that is, about 6777 B. C. As this reckoning was based upon the reign-periods of kings and was associated with legends concerning Spatembas (*Svayambhūva*) and Bondays (Buddha), the stand-point must have been that of the Purāṇas. The date 6777 B. C. should consequently be identified with the beginning of the *Tretāyuga* of the Purāṇas, with the result that the end of the Kaliyuga falls in 424 A. D. (6777 B, C.—424 A. D.=7200 years) and the coronation of Mahāpadma is assigned to 413 B. C. being 836 years prior to the end of Kali, According to this view of the chronology, the yuga periods are—

Tretā—6777 B.C—3177 B. C.
Dvāpara—3177 B. C—777 B. C.
Kali—777 B. C.—424 A.C,

We can put this chornology to some rough tests. ●

—(Adopted from the Report of the first Oriental Conference, Poona, Published in Sanskrita Bharati Supplement, Vol. 2 No. IV pp. 119-122—October-December, 1919.)

THE DATE OF MAHĀVĪRA'S NIRVĀṆA, AS DETERMINED IN ŚAKA 1175.

☐ *K. B. Pathak*

The Jains of Maisur place the date of the Nirvāṇa of Mahāvīra 607 years before the era of Vikrama. The editor (of the Indian Antiquary, Vol. II Page 140) suggests, however, that this is a mistake for the Śaka era. And I propose to show now that, with the difference of 605 for 607 years, this suggestion contains the correct truth, and that the resulting date of B. C. 527 is the one given in the Jaina books of these parts for the event in question.

The mistake arose in the misinterpretation, by the native commentator, of a well-known passage in the *Trilokasāra,* which says:—

'पणछसयवस पणमासजुदं गमिय वीर णिबुइदो सगराजो'

"Six-hundred and five years, jointed to five months, having passed away since the *nirvāṇa* of Vīra, the Śaka king (was born)".

This is the literal rendering of the text as written by Nemichandra. But the commentator, Mādhavachandra, takes the expression Sagarajo in the sense of Vikarmāṅka-Śakarājā. In the text itself there is nothing to warrant this view. And the misinterpretation, which has puzzled many oriental scholars, is not countenanced by the numerous Canarese commentaries on the *Trilokasāra,* which are found in the Jaina bastis. I shall trascribe below a passage from a work on *Śrāvakāchāra,* or the conduct of the laity, which calculates Vīra's *nirvāṇa* according to the Śake era, and enables us to arrive at 527 B. C. as the date of that event. This exactly concides with the view of the *Śvetāmbaras* of the north, who place the event 470 years before Vikrama.

Like the Jainemdram, the *Trilokasāra* is regarded as an autority by the Digambaras of Delhi and Jaipur, although Nemichndra flourished in Southern India 200 years later than the illustrous *Pūjyapāda.*

In the passage in question we are told that 1180 years from *Vīra* had elapsed when this work on *Śrāvakāchāra* was established for worship, on the fifth day called the *Śruta-pañchmi,* in the bright half of Jyeshṭha, in the Paridhavī *samvatsara.* And we read further on that

the Śaka king was born 605 years after Vira. Now, deducting 605 from 1780, we get 1175. And the auther says expressly that the year in which his work was worshipped was the Paridhavī samvatsara. By the Tables in Brown's Carnatic Chronology, the Paridhavi samvatsara fell in Śaka 1174. And Mr. Fleet, in his Dynasties of the Kanarese Districts, p. 69, has quoted an inscription in which the *Paridhavī san.vatsara* is allotted to Śaka 1175, for 1174, according to Brown. Hence it is evident that 1780 years since *Vīra's nirvaṇa* had passed away in Śaka 1175, the Paridhavī samvatsara. Consequently, the "ornament of the Nāthakula" attained *mokṣha* 605 years before the Ṣaka era. The *Śvetāmbaras* place this event 470 year before the era of Vikrama. And the difference between the two eras is 135 years. And

470+135=605 (before the Saka era)
605— 78=527 B. C.
470+ 57=527 B. C.

I have omitted the fractions, as they do not affect my general conclusions. I have thus proved that the Digambaras of the Karnātaka are perfectly at one with the *Śvetāmbaras* on this important point.

I must say just a word in regard to the *Śrāvakāchāra*. It is called *Maghanandī-Śrāvakāchāra*, because Maghanandī wrote the first chapter. The remaining chapters, however, were composed by different authors whose names are mentioned. At the beginning of the fifth chapter, Maghanandī himself is thus praised :—

नमो नम्रजनानंदस्यदिने माघणं दिने ।
जगत्प्रसिद्ध सिद्धांतवेदिने चित्प्रमोदिने ॥

But the question of the authorship of the Śrāvakāchāra has no bearing whatever on the date of Mahāvīra himself.

Transcription

Mattam I Vardhamana--tirthakara-kaladolu Gautama-Sudharma- Jambunathar=emb=ivar=anubaddha-kevaligala kalam । aruvatt-eradu varsham ॥ 62 ॥ Namdi-Nandimitra-Aparajita-Govardhana. Bhadrabahugal=emb=ayvaru । sruta-kevaligala kalam nura varsham ॥ 100 ॥ Mattam Visakhanum । Proshthilanum । Kashatriyanum । Jayanum । Naganum । Siddharthanum । Dhritishenanum । Vijayanum । Buddhilanum । Gamgadevanum । Sudharmanm=emba dasa—purva-dhararaikadasara kalam । nur-emdhatta-mura varsham=akkum । Mattam Nakshatranum । Jayapalanum । Pamduvum । Drumasenanum । Kusum-bacharyanum

=emd=ekadas-amga-dhara-pamchakara kala-prananam=imnurip-pattu varisam । 220 । Mattam=i-tirthakara-samtanadolu Subhad-ranum । Yesobhadranum । Yasobahuvum । Lahabha-namanum= emb=acharamga (dhara) chatushtayadakalam । nure-hadinemtu varisam । 118 । Imt=i Gautam-adigala kalam=ellam kudi । aru nur-embhatta-muru varisam=akkum । Mattam=achar-amgadharim balikka sasirada tombhatt-elaney Paridhavi sam batsarada— jyeshtha suddha Sruta-pamchamiya dinam=i Śravakachara-srutiam pratishthitam=aytu ॥ Antu sasirad=elu-nur-embhattu varisam= akkum ॥ 1780 ॥ Mumd=imna Vira=svamiya kalam hattombhattu sasiradimnur-ippattu varisam ॥ 19220 ॥ pravarttisagu ॥..... ...॥ Mattam Vira-Jina muktan=adim balikkam=arunur-aydu varisam= aydu timgal-amdu ॥ 605 ॥ tim 5 Sakarajam puttidam.

MAGHANANDI-ŚRĀVAKĀCHĀRA, Chap. II

Translation

And in the period of this Tīrthaṅkara Vardhamāna, there flourished the Kevalis named Gautama, Sudharmā, and Jambūnātha; their time was sixty-two years-62. (Then) there were five Śrutakevalis named Nandi, Nandimitra, Aparājita, Govardhana, and Bhadrabāhu : their time was a hundred years,—100. And (then) there were eleven masters of the ten purvas, named Viśākha, Proshṭhila, Kṣhatriya, Jaya, Nāga, Siddhārtha, Dhritishena, Vijaya, Buddhila, Gangādeva and Sudharmā; their time was a hundred and eighty-three years. And (then) there were five masters of the eleven *aṅ*gas, named Nakshatra, Jayapala, Pāṇḍu, Drumasena, and Kusumbaehārya; their time was two hundred and twenty years,—220. And during the period assigned to this tīrthaṅkara, there flourished also Subhadra, Yaśobhadra, Yaśobhu, and Lohabhu, the four masters of the Āchārāṅga, their time was a hundred and eighteen years,—118. Thus the whole period including the time of Gautma and others, was six hundred and eighty-three years. And on the *Śrutapañchami*, in the bright half of Jyeshṭha, in the Paridhavi samvatsara, being the thousand and ninety-seventh year from the time of the masters of the Āchārāṅga, this work on the conduct of the laity was worshipped. Thus from Vīra there were a thousand seven hundred and eighty years,—1780. The time which the era of Vīrasvāmī (will) yet (continue) is nineteen thousand two hundred and twenty years.— 19220. (Pravarttisagu)

And the Śaka king was born when six hundred and five years and

five months,—605 years, five months-had passed away since Vira Jina attained mokṣha.

—(We count the numbers 1780+19220=21000 of *Saṁbatsars* upto Paridhāvī Sambatsara as the numbers of months and thereafter enumerate the whole period of Vīra's era 1750 years (21000÷12), when the *Śrāvakāchāra* of Mahānandi was written, i.e. 47 BVE.

—Editor)

□

The Usra Major i.e. Seven Star group—*Saptarshi Maṇḍala* changes a constellation after every 100 years. The total no. of constellation is 27. At the time of Mahābhārata the Usra Major was in Maghā (10th lunar mansion) and now after a full cycle of 27 lunar mansions, and in the third round it has changed 5 lunar mansions and entered in the second half of the 6th lunar mansion—*Ārdrā*, as ellustrated above.

Betelgeuse (*Ārdrā*) move in between the two Usra Major (small & big) from right to left, which can be seen perpendicularly above, the Arcturus (*Swāti*).

—Editor

Addendum

1. Measurement of time through eclipses

As noticed by late Śaṅkara Bālkṛṣṇa Dīkṣita in his 'भारतीय ज्योतिः शास्त्र' Page 63 (1st edn.), there are references to solar eclipses in five places in the *Tāṇḍya Brāhmaṇa* which are : (1) IV, 5, 2; (2) IV, 6.13; (3) VI, 6.8; (4) XIV, 11, 14-15 and (5) XXIII, 16,2. In all these references it is stated that *Svarbhānu* struck the sun with darkness.

A reference to a solar eclipse in the Śatapatha Brāhmaṇa (V. 3.2.2) and several others in Mahābhārata and other ancient literature including our old seripture—Ṛg-veda, are mentioned, viz., V, 40, 5-9 V, 33.4; X, 138, 3 and X, 138, 4. etc.

Of the five references in *Tāṇḍya Brāhmaṇa* mentioned above, three are the following :—

(a) 'स्वर्भानुर्वा आसुर : आदित्यन्तमसाऽविध्यत्तं देवाः स्वरैरवस्पृण्वत् स्वरसामानो भवन्त्यदित्यस्य स्पृत्यै ।'

(b) 'स्वर्भानुर्वा आसुर : आदित्यन्तमसाऽविध्यत्तस्य देवा दिवाकीर्त्यैं स्तमोऽपाघ्नन् यद्दिवाकीर्त्यानि भवन्ति तम एवास्मादघ्नन्ति रश्मयो वा एत आदित्यस्य यद्दिवा कीर्त्यानि रश्मिभिरेव तदादित्यं साक्षादारभन्ते ।'

(c) 'स्वर्भानुर्वा आसुर : सूर्य्यं तमसाऽविध्यत्तस्मै देवाः प्रायश्चित्तिमैच्छंस्त एता अविन्दंस्ताभिरस्मात्तमोऽपाघ्नान् ।'

—(T, Br. IV. 5. 2, IV. 6.13, XXIII. 16.12)

—these passages may be translated as under :

(a) *Svarbhānu* born of Asura, struck the sun with darkness, which was dispelled by gods with *Svaras* (hymns); hence the *Svarasāmans* are for the rescue of the sun.

(b) *Svrarbhānu*, the Asura, struck the sun with darkness. The gods removed this darkness by singing the *Divākīrtya* songs. Whatever are known as *Divākīrtyas* are for the destruction of darkness. These *Divākīrtya* songs are the rays of the sun. By the rays alone the sun is truly begun.

(c) *Svarbhānu*, the Asura, struck the sun with darkness; for this the gods wanted to purify him and they got these *Svarasāmans*; by these they removed the darkness from the sun.

These passages all indicate that the solar eclipse in question happend on the *Viṣuant* day, which means acco rding to the *Taittirīya* Saṁhitā as 'the middle day of the sacrificial year begun from spring'.

It meant the day on which the Indian rains ended and Indian autumn began. To be more precise, it meant the day on which the sun's tropical longitude became 150°.

According to the Vedic sacrificial calendar, there were the three *Svarasāman* days before the *Viṣuvant*. and three *Svarasāman* days after the *Viṣuvant*. On these seven days, including the *Viṣuvant*, the *Divākīrtya* songs were sung. The *Sāṁkhāyana Brāhmaṇa* (1.3) records : People ask, in what season should men set up the fires again ? One opinion is that it is the rains that are favourable for all people for attaining their desires. Hence for the realization of all the desirable things the fires should be set up again at the middle of the year, by observing the heliacal visibility of the two stars of the *nakṣatra Punarvasu* (Geminorum). But at this time of observation of the heliacal visibility, there may not be the first light half of the month. The new moon which comes after the full moon at the *Āṣāḍha*, happens near the two stars of *Punarvasu* :

'तदाहु : कस्मिन्नृतौ पुनरादधीतेति । वर्षास्विति हैक आहुर्वर्षासु वै सर्व्वे कामाः सर्वेषामेव कामानामाप्तैव मध्यावर्षे पुनर्वसूनक्षत्रमुदीक्ष्य पुनराधीत..... तद्वैन तस्मिन् काले पूर्वपक्षे पुनर्वसुभ्यां संपद्यते । ये वैषाऽऽषाढ्या उपरिष्टादमावास्या भवति सा पुनर्वसुभ्यां संपद्यते । उपाप्तोऽमावस्यायां कामो भवत्युपाप्तो वर्षासूपाप्तः पुनर्वस्वोस्तस्मात्तस्यां पुनरादधीत ।'

The first part of the above passage implies that the middle of the year i. e., the summar solstice day was marked by the heliacal visibility of the *Punarvasu*. The concluding portion is a makeshift arrangement, by which even the light half of the month is not obtained for setting up the fires again. The Brāhmaṇa (XIX.2) elaborating the point again mentions.

'तैषस्यामावस्याया एकाह उपरिष्टादीक्षेरण्माघस्यवेत्याहुस्तदुभयं व्युदितं तैषस्यत्वेवो दिततरमिव त एतं त्रयोदशमधिचरं मासमाप्नुवन्ते तावान् वै संवत्सरो यदेष त्रयोदश मासस्तद श्रैव सर्वः संवत्सर आप्तो भवति ॥'

That they should consecrate themselves on the day after the new moon of *Taiṣa* or of *Maghā*, they say : both of these views are current, but that as to *Taiṣa* is the more current as it were. They obtain this 13th additional month : the year is as great as this thirteenth month; in it verily the whole year is obtained. We thus infer that the solar eclipse, recorded in the *Tāṇḍya Brāhmaṇa*, happened on the *Viṣuvant* day, on which the sun's tropical longitude was about 150° degrees and it was total eclipse which is very rare phenomena.

2. The sun returns to the same node after each eclipse year; new moons or full moons recur at intervals of an ordinary month.

Nineteen eclips year or 6585.7806 days are nearly equal to 223 months or 6585.3211 days. After this interval of 18 years 11 days, which is called the *saros*, the moon and the sun come nearly to the same relative positions again and eclipses will repeat themselves.

Since the coincidence of the two periods is not exact, the repetition of an eclipse after a *saros* will be of different circumstances. Suppose an eclipse of the sun takes place which is visible on the earth in high northern latitudes, it will repeat after 223 months, but period will be shorter by 0.4595 days than 19 eclipse years, and the moon will now overtake the sun, while it is 28° farthar to the right, nearer to the node. The sun will be closer to the centre of the moon circle, and on the earth the eclipse will be visible nearer to the equator or farther south than the previous eclipse. After every saros the meeting of the moon and the sun will be a little farther to the right. Solar eclipses may thus be ordered into series, each of which contains 68 to 75 eclipses, about 18 total at intervals of a *saros* extending over 13 to 14 centuries,

The fraction of 0.3211 days in the period of the *saros* has the effect of making each successive eclipse of a series visible about 110° of longitude farther west on the earth and after three saroses it returns nearly to the same longitude, but farther south if at the ascending node or farther north if at the descending node.

Furthermore, there are changes, distinct from the periodic, in celestial motions. This is mainly due to tidal friction, which has two consequences : (1) the earth's rotation is slowed down by the pull of the moon on the oceans at a rate that had overaged some 2" century after century since ancient times; (2) the orbital angular momentum of the moon is increased, pushing the moon farther away from the earth. The first effect would by itself lead to an apparent acceleration in the moon's motion of about 26" per century : the accelaration actually observed is only 5.2" per century because the second effeet counteracts the first.

3. *Recorded Eclipses*

In the *Shuking* (chinese Book of Historical Documents) it is stated that Hsi and Ho, the hereditary astronomers, had neglected the duties of their office. The king, Chengk'ang placed the Marquis of yin in command of an army with instructions to punish them. The Marquis issued an order to his troops in which he referred to Hsi and Ho having neither heard nor known anything on a recent occasion when the sun and moon did not meet harmoniously in *Fang*. It is a reference to a solar eclipse and the famous *Bamboo Book*, where

chronology is probably nearer to the truth place that event in 1952 B. C , after that 12th ordinary eclipse may have occurred as recorded in the Samyukta Nikāya (1.2.1.9-10) :

९. चन्दिम सुत्तं

१३. 'सावत्थि नि ानं । तेन खो पन समयेन चन्दिमा देवपुत्तो राहुना असुरिन्देन गहितो होति । अथ खो चन्दिमा देवपुत्तो भगवन्तं अनुस्सरमानो तायं वेलायं इमं गाथं अभासि—

नमो ते बुद्धवीरत्थु, विप्पमुत्तोसि सब्बधि ।
सम्बाध पटिपन्नोस्मि, तस्स मे सरणं भवा'ति ।।

अथ खो भगवा चन्दिमं देवपुत्तं आरब्भ राहुं असुरिन्दं गाथा ये अज्झभासि—

तथागतं अरहन्तं, चन्दिमा सरणं गतो ।
राहुचन्दं पमुञ्चस्सु, बुद्धा लोकानुकम्पकाति ।।'

१४. 'अथ खो राहु असुरिन्दो चन्दिमं देवपुत्तं मुञ्चित्वा तरमानरूपो येन वेपचित्ति असुरिन्दो तेनपसङ्कमि; उपसङ्कमित्वा संविग्गो लोम हट्ठजातो एकमन्तं अट्ठासि । एक मन्तं खो राहुं असुरिन्दं वेपचित्ति असुरिन्दो गाथाय अज्झभासि—

किं नु सन्तरमानोव, राहुचंदं पमुञ्चसि ।
संविग्गरूपो आगम्म, किं तु भीतो व तिट्ठसीति ।।
सत्तधा मे फलेमुद्धा, जीवन्तो न सुखं लभे ।
बुद्धगाथाभि गीतोम्हि, नीचेमुञ्चेय्य चन्दिमं' ति ।।

१०. सुरिय सुत्तं

१५. 'सावत्थि निदानं । तेन खो पन समयेन सुरियो देवपुत्तो राहुना असुरिन्देन गहितो होति । अथ खो सुरियो देवपुत्तो भगवन्तं अनुस्सरमानो तायं वेलायं इमं गाथं अभासि—

नमो ते बुद्धवीरत्थु, विप्पमुत्तोसि सब्बधि ।
सम्बाधि पटिपन्नोस्मि, तस्स मे सरणं भवा'ति ।।

अथ खो भगवा सुरियं देवपुत्तं आरब्भ राहुं असुरिन्दं गाथाहि अज्झभासि—

तथागतं अरहन्तं, सुरियो सरणं गतो ।
राहु सुरियं पमुञ्चस्सु, बुद्धा लोकानुकम्पका ।।
यो अन्धकारे तमसि पभङ्करो
वे रोचनो मण्डली उग्गतेजो ।
माराहु गिली चरमन्तलिक्खे
पजं ममं राहु पमुञ्च सुरियं 'ति ।।'

१६. 'अथ खो राहु असुरिन्दो सुरियं देवपुत्तं मुञ्चित्वा तरमानरूपो येन वेपचित्ति असुरिन्दो तेन पसङ्कमि; उपसङ्कमित्वा संविग्गो लोमहट्ठजातो एकमन्तं

अट्ठासि। एकमन्तं ठितं खो राहुं असुरिन्दं वेयचित्ति असुरिन्दो गाथाय अज्झभासि—

किंतु सन्तरमानोव, राहु सुरियं पमुञ्चसि।
सं विग्गरूपो आगम्म, किन्नु भीतो व तिट्ठसी 'ति॥
सत्तधा मे फले मुद्धा, जीवन्तो न सुखं लभे।
बुद्धगाथाभि गीतोम्हि, नो चे मुञ्चेय्य सुरियं 'ति॥"

Here, the eclipse of the moon was closely followed by an eclipse of the sun, and apparently at a very short interval, as the phrase' **'तेन खो पन समयेन'** indicates, i. e, the two events happened in the short period of time of the Buddha's stay at *Srāvastī*.

4. To settle chronology by a reference to a solar eclipse is a very difficult matter. Because eclipses having similar characteristics take place in a cycle and the periods of 223 lunar months and that of 19 eclipse years are also equal. This means that at the end of each *saros* the sun, the moon and the nodes of the moon's orbit will be in almost identical positions, and that the sequance of eclipses will be repeated with only very small differences. However the positions are not identical between two successive total solar eclipses and an amular eclipse or a solar eclipse caused by the regular crossing of the ecliptic.

When the earth is at perihetion, the apparent diameter of the sun is 32'35"; at aphelion, the value is 31'31". The apparent diameter of the moon ranges between 33'3" and 29'22". The moon can, therefore, hide the sun completely when it is near porigee, but it is moving steadily in its orbit, and totality can never last for more than 7½ minutes or so, while at most eclipses totality is much shorter. Moreover, the track of totality or earth can never be more than 169 miles wide, so that as seen from any one place a total eclipse is a rare event.

Earth's axis tilted by 23½° to the perpendicular, the angle between the ecliptic and the calestial equartor is also 23½°. The ecliptic is the projection of the earth's orbit on to the celestial sphere, and may also be defined as the apparent yearly path of the sun among the stars. It passes through 12 zodiacal constellations, together with a small part of a 13th ophiuchus.

The moon's orbit is also tilted about 5° to the earth's orbit around the sun. For this reason the moon's shadow generally misses the earth and so a solar eclipse does not occur. Likewise, the moon most often escapes being eclipsed by passing above or below the shadow of the earth.

About 21 March each year the sun crosses the celestial equator, moving from the southern to the northern hemisphere of the sky,

this is termed the vernal equinox or first point of Aries (मेष), six months later, about 23 September, the sun again crosses the equator, moving from north to south, this is the autumnal equinox or first point of Libra (तुला).

The vernal equinox is used as the zero point for right ascension. It used to be in Aries, but precession has now shifted it out into the adjoining constellation of pisces, the Fishes (मीन). Now if we study its precession and ascension periods, it will reveal history.

The eclipses tha have been definitely identified are for the moon that of 1361 B. C. and for the sun that of 1217 B. C., both derived from inscriptions on ancient oracle bones. If we credit the period of two successive total solar eclipses of 360 year's duration to 1217 B. C., it will be 1937 B. C., that equalize to the *Bamboo books'* recorded timing of the King, Chung K'ang, who might have noticed a solar eclipse of ordinary nature of 1955 B. C. or near about.

In the same way, the *Assyrian epanym* canon records under the year which corresponds to 763-762 B. C., "In surrection in the city of *Assur*. In the month of *sivan* the sun was eclipsed". The reference must be to the eclipse of the sun on June 15, 763 B. C. A reference to the same eclipse has been found in the Bidle : "And on the days', says the Lord God, 'I will make the sun go down at noon, and darken the earth in broad day light (Amos VIII, 98). This eclipse of 763 B. C., recorded in the *eponym* canon makes it possible to carry the chronology back with certainty through the period covered by that canon to 893 B. C. and if accredited of the two total and fourteen more ordinary eclipses, it will correspond to the solar eclipse of *Saṁyukta Nikāya,* mentioned above. However, moon eclipse might not have been visible there.

—Parmeshwer Solanki

2. Chronological gap of twelve hundred years

According to Jaina faith, Pārśvanāth lived for a hundred years and his death occurred 250 years before Mahāvīra's. The parents of Mahāvīra were the followers of the religion propagated by Pārśva. He was born in *Vārāṇsī* as the son of king *Aśvasena* of *Ikśvāku* dynasty. He is acknowledged as a great man, the ideal for the people, the enlightened one, the omniscient one, the religion-incarnate and the victor (*uttarādhyayana* 23.1).

Many references to the pupils of Pārśvanātha are found in ancient Jaina scriptures. A reference to discussion between Mahāvīra and Gāṅgeya, a follower of Pārśvanāth occurs in *Vyākhyā Prajñpti* 9.32. There is another reference to Pārśvā's Pupil Pedhalputta who after listening to the sermons of Indraphūti adopted Mahāvīra's five-point message. The discussion between pārśva's follower Kesīkumara and Māhāvīra's *gaṇadhara* Indrabhūti in *Uttarādhyayana* is significant. Another discussion between the pupil of Pārśvanātha, named Kalasavesiyaputta and one of Mahāvīra is also corroborated by the *Bhagvatī Sutra* and the theme was the penance of adopting five precepts instead of four (1.76).

The Pārś va-Tradition was popular among the masses. The founder of the Baudha religion, Gautam Buddha had also been under its influence. The fourfold religion emanating from Pārśvanāth does not confirm that in his precepts he gave no room for celibacy. Moreover, the principle of celibacy is implied automatically in non-possession.

Out of the sixteen royal dynasties existing then in India two, i. e. *Kasī* and *Pañchāla*, which were highly influential, had matrimonial relations with the dynasties of the leaders of Jaina religion. Pārśvanāth was himself a member of the royal family of *Kāsī*. He was son-in-law of the king of *Pañchāla*.

However, it will be illogical to declare that the followers of Pārśvanātha were spread throughout the sub-continent but from the evidence of *Sutrakritaṇga* and other Jaina scriptures, they lived in the catchment area of Magada during the time of Mahāvīra and there is a chronological gap between Pārśvanātha and Mahāvīra. Historically there is no patriarch or successor known to us, before and after Pārs' vanātha.

Similarly there are gaps in chronology of the successors to Mahāvīra and offshoots to his precepts of the religion. During the time-leg of 250 years between Pārs'va and Mahāvīra, numerous sects and schisms arose. *Sutrakritāṇga* (V.119) mentions as many as 363

such-schisms of the four main sects extant at the time. Mr. A. C. Sen has detailed these sectarian differences in monastic life of the period (Schools and Sects in Jaina Literature, Calcutta, 1932).

There were a few followers of Mahāvīra who received initiation from him and they too became self-centred and established new sects. *Āvaśyaka-Niryukti, Aupapātika* and Commentaries on *Uttarādhyayana* reveal seven divisions, two of them led by Jamāli and Tishyagutta, parted during the life-time of Mahāvīra himself and and five others within a lapse of 584 years since the death of Mahāvira.

The famous *Barli*-inseription refers to Goṣṭha māhila, who believed that the Karman simply touched the soul but did not bind it (*Āvaśyakabhāsya vritti,* Vs 141-144). We read and decipher the Barli-inscription us under :

वी राय भगव (ते)—
५००+चतु रासीति व (से)—
कायेसालि माहिले—
(प्र) तिष्ठा मझिमिके

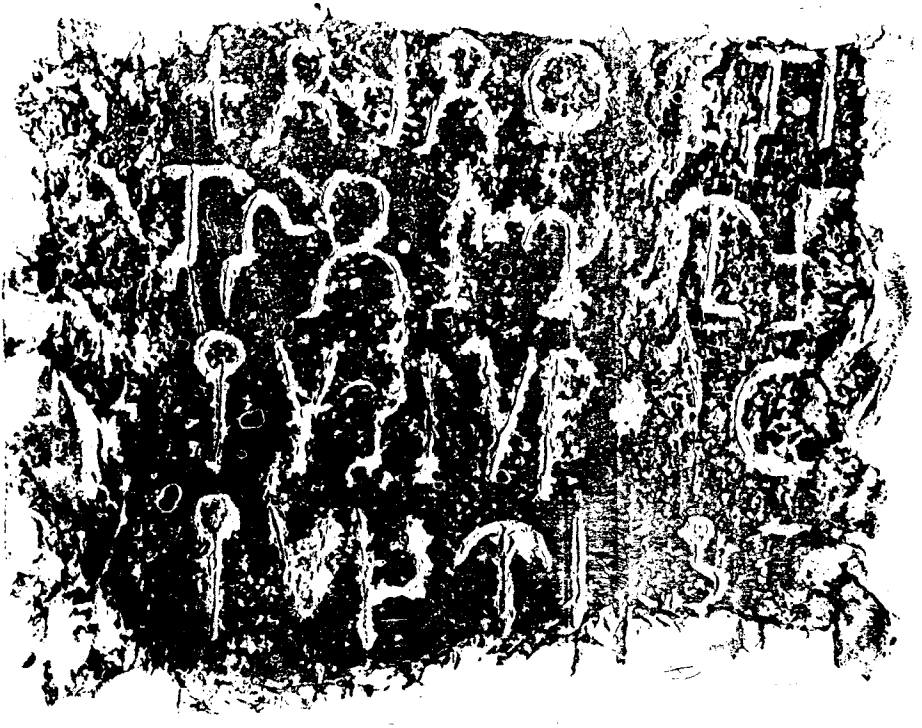

That Goṣthamāhila was present in Madhyamikā 584 years after Bhagawān Mahāvīra.

The Kalpasutra list of the patriarchs from Suhastin onwards is as follows. Suhastin, Susthita, Supratibuddha, Indra, Dinna, Sinhagiri and Vajra. The last, i. e. Vajra went to Bhadragupta of Pātalīputra and returned back to Dashapura after learning the knowledge of Pūrvās. He joined his guru Sinhagiri and succeeded him.

Now there was a person called Āryarakṣita, who lived in *Dashpura*. He went to the local Jain Āchārya to learn the *Dristtivāda*. The āchārya asked him to become a monk first. Āryarakṣita was willing but he was afraid that king and people would importune him, so he induced the monks to remove their residence and after doing so he intered in the order.

After acquiring all knowledge that the Āchārya possessed, Āryarakṣita went to join Vajra and in short time he had mastered nine Pūrvās. It was when he learned the *yamaks* of lhe 10th Pūrva, that the course of his studies was interupted and he was forced to return home. (This was a simple case that Jainas were guilty of seducing disciples of the other sects.) It appears from the account given by Hemachandra that this man occupied the top place in the church and he was the one who knew the Jaina sacred literature in full. There was upto that time no written record of this literature and every thing had to be committed to memory.

Goṣṭhamāhila of *Dashpura* took his initiation from this Āryarakṣita and afterwards as a successor to him he led the seventh schism. His followers were called *Abaddhiyas* who asserted that Jiva was not bound by karman.

In this way the eighth schism was inevitable, as there was no patriarch of the cadre of Āryarakṣita or his disciple Goṣṭhamāhila. And just 40 years before him Rohagupta saparated from the church on the *Jiva, ajiva* and *Nojiva* principle. It was therefore question of time only. Accordingly the Jaina order was divided into two sects, later known as *Śvetāmbers* and Digambers, 609 years after the death of Mahāvīra (*Āvaśyaka Bhāṣya*, G. 145).

However as the anceint canonical literature shows in the early stage there was no hard and fast distinction between the precepts of these two Jaina sects nor any clear demarcation between them along sectarian lines. For example, the *Sthanāṅga* (II, 171) pern its the use of garments under certain conditions; the *Ācārāṅga* (II, 5) provides for begging of garments and the *Uttarādhayayan* (II. 12) refers to the worry of monks about their garments becoming old and torn.

With the passage of time and changed conditions, attitudes and approaches began to stiffen, doctrines to ossify and sectarian outlook

to dominate. The frequency of councils to determine various recensions of the canon during this period in an index of the forment in the realm of ideas leading to this development.

Now if we turn to the *Deccan* and leave aside *pātalīputra, Mathurā, Dishpura* (*Ujjain*) and *Vallabhī* schools, we find that the Digambaras of south India had started developing their own sacred literature. They had to do this because according to them the last of the āchāryas who knew even a part of the Aṅgas had died 683 years after the death of Mahāvīra. The name of the last āchārya, in their opinion was Bhūtavali. And next pontiffs to him were Bhadrabāhu and his pupil Kundkunda, who started writing sacred books for the Digambaras.

The Bhadrabāhu, referred to above, is different from the Bhadragupta who taught Sthūlbhadra. We infer that this patriarch is 27th of the list instead of the 7th and to him follow Bhadrabāhu, Guptigupta, Maghanandi, Jinachandra and Kundkunda. Accordingly there were two, 12-year famines and both were predicted by seers named Bhadrabāhu or Bhadragupta, having interval of avout twelve hundred years in their periods of existence.

The Jains themselves, both *Śvetambars* and Digambaras, have their own versions as to how the schism between them occurred. The *Śvetambara* version is given in *Āvaśyaka Bhāsya* and Digambara version in Herisen's *Brihat Kathākoṣa.* The story of Sivabhūti and his *Ratna Kaṁbala,* recorded in Svetambara version and the story of *ardhaphalakas* and the queen Chandra lekhā narrated in Digambara version were not identical.

Can we not infer from this that nobody knew the origin of either of the two divisions ? Some thing must be said and so after wards they have put down anything that came into their heads. Really speaking one can not arrive at any definite conclusion from all these mutually conflicting traditions without admitting the gap of periods mentioned above.

Furthermore, there is a reference to *Śvetapaṭas* in a grant, issued by Kadamba King Mrigesh Varma (Jaina Silalekh Samgrah, Vol. II. pp. 69-72) that the granted village was divided into three shares, the first to the holy *Arhat,* the second to the eminent ascetics called *Śvetapaṭṭas* and the third for the eminent ascetics called *Nirgranths.*

It is worthwhile to mention here, the epigraph, at *Śravaṇabelgolā* also wherein Bhadrabāhu had predicted the famine in Ujjayani and not in Magadha. This citation is incorporated by the mention of two separate 12-year famines in Ujjayani and Pāṭalīputra recorded in *Pañchtantra* of pt. Vishṇu Sharma.

Another discrepancy seems to exist in location. The main concentration of the Śvetambaras is round about and within 500 Kilometres of Vallabhi. Most of the Jains in Gujrat and Western Rajasthan are Śvetambaras, while most of the Jains of eastern Rajasthan, U. P. and the Jains of South India are Digambaras.

To make matters more clear we might say that the Chief points on which the two parties particularly do not agree are the insistence of the exchange of embryo of Mahāvīra, the beliefs that woman is not entitled to Maksha and that Kevalins do not take food and finally the complete disappearance of the ancient sacred literature of the Jainas.

The very names of the two divisions connote what is meant by them. The Digambaras maintained that absolute nudity is a necessary condition of saintship; the other division also admits that Mahāvīra went about naked, but holds that the use of clothes does not impede the highest sanctity.

Anyhow if we agree with the gap of time that changed the conditions, attitudes and approaches of the followers of Pārśvanātha and Mahāvīra that Śvetambaras are more akin to the former while Digambaras are nearer to Mahāvīra though historically this might had been the vice-versa.

—Parmeshwer Solanki

□

दुर्लभ और संग्रहणीय

'तुलसी प्रज्ञा' के अनेकों/दुर्लभ अंक पुरानी दरों पर विक्रय हेतु उपलब्ध हैं। खण्ड-१७ के चारों अंक ४५/- रु० में और शेष ३५/- रु० वार्षिक अथवा प्रति अंक १०/ रु० में देय हैं।

कृपया शुल्क तथा पेकिंग और पोस्टल रजिस्ट्रेशन के लिए दस रुपये अग्रिम भेजें और इस सुविधा से लाभ उठावें।

विशेषांकों के लिए प्रति अंक पच्चीस रुपये और पोस्टल रजिस्ट्रेशन शुल्क भेजें।

—संपादक, तुलसी प्रज्ञा
जैन विश्व भारती, लाडनूं-३४१३०६

Registration Nos. [Postal Department : NUR—08
Registrar of Newspapers for India : 28340/75

Vol. XVIII TULSĪ-PRAJÑĀ 1992-93

JVBI Research Journal

ऋषभदेव मुद्रा

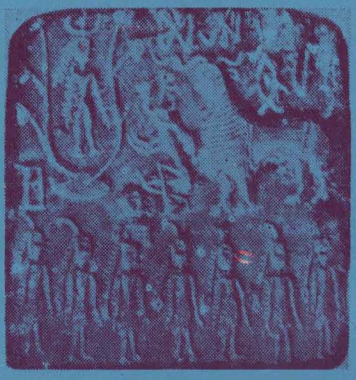

कायोत्सर्ग के साथ वृषभ मोहेनजोदड़ो-खोदाई में प्राप्त
(लग० पांच हजार वर्ष प्राचीन)

Jain Vishva-Bharati Institute, Ladnun—341-306

प्रकाशक-मुद्रक : रामस्वरूप गर्ग द्वारा जैन विश्व भारती, लाडनूं-३४१३०६ के लिये जैन विश्व भारती प्रेस, लाडनूं (नागौर) में मुद्रित । संपादक : डॉ० परमेश्वर सोलङ्की